पतझर

एक भाव-क्रांति

एक भाव-क्रान्ति

सुमित्रानन्दन पन्त

मूल्य पद्रह रुपये

प्रथम सस्करण फरवरी १९६९

PATAJHAR EK BHAV KRANTI
by Sumitra Nandan Pant Poetry Rs 15

विज्ञापन

प्रस्तुत संग्रह में मेरी अनेक प्रकार की नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं। अधिकतर रचनाएँ भाव प्रधान तथा युग बोध से प्रेरित हैं, कुछ विचार प्रधान भी हैं जिनमें मैंने आज के आत्म-कुंठित युग में लाउड थिंकिंग करना आवश्यक समझा है।

संग्रह का नाम पतझर एक भाव क्रांति भी युग-संघर्ष ही का द्योतक है। भाव क्रांति मेरी दृष्टि में क्रांतियों की क्रांति है। आज की विषमताओं तथा जाति-वर्गगत विभेदों का उन्मूलन करने के लिए मनुष्य को रोटी के संघर्ष के साथ जन-मन में घर किए विगत युगों के प्रेत मूल्यों से भी लड़ना है। बाह्य क्रांति आंतर क्रांति के बिना अधूरी तथा एकांगी ही रहेगी—ऐसा मेरा आज के विश्व जीवन तथा मन के यत्किंचित् संपर्क में आने के कारण अनुमान है। मेरे विचार यदि तरुण भावनाओं को अस्थियाँ प्रदान कर सकेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

इन मन स्वप्नों को मैं डा० रामविलास शर्मा को समर्पित कर रहा हूँ—अब के प्रयाग में अनेक वर्षों के बाद उनसे मिलकर मुझे जो प्रसन्नता हुई उसकी सुखद स्मृति के रूप में।

राजपाल एण्ड सन्ज के स्वामी श्री विश्वनाथ जी अब की गर्मियों में कुछ दिनों के लिए रानीखेत वेस्ट व्यू होटल में ठहरे थे, जहाँ इस संग्रह की अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। वही इस संग्रह को प्रकाशित कर रहे हैं, उनके सहयोग के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

१८।बी ७, के० जा० मार्ग, सुमित्रानंदन पंत
इलाहाबाद

सुमित्रानन्दन पंत

विज्ञापन

प्रस्तुत सग्रह म मरी जनक प्रकार की नवीनतम रचनाएँ सगृहीत हैं। अधिकतर रचनाएँ भाव प्रधान तथा युग भाव से प्रेरित हैं कुछ विचार प्रधान भी हैं जिनम मैंने आज क आत्म-कुठित युग मे लाउड थिंकिंग करना आवश्यक समझा है।

सग्रह का नाम पतझर एक भाव क्राति भी युग-सघष ही का द्योतक है। भाव क्राति मरी दृष्टि म क्रातियो की क्राति है। आज की विषमताओ तथा जाति-वगगत विभेदो का उन्मूलन करने के लिए मनुष्य को रोटी क सघष क साथ जन मन म घर किए विगत युगो के प्रेत मूल्यो स भी लडना है। बाह्य क्राति आतर क्राति के बिना अधूरी तथा एकागी ही रहगी—एसा मेरा आज के विश्व जीवन तथा मन क यत्किचित सपक म आने के कारण अनुमान है। मेर विचार यदि तरुण भावनाओ को अस्थिया प्रदान कर सकेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

इन मन स्वप्नो को मैं डा० रामविलास शमा को समर्पित कर रहा हूँ—अब के प्रयाग म अनक वर्षों क बाद उनस मिलकर मुझे जो प्रसन्नता हुई उसकी सुखद स्मृति के रूप म।

राजपाल एण्ड सन्ज क स्वामी श्री विश्वनाथ जी अब की गर्मियो म कुछ दिनो के लिए रानीखेत वस्ट व्यू होटल म ठहरे थे जहा इस सग्रह की अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। वही इस सग्रह को प्रकाशित कर रहे हैं उनक सहयोग के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

१८।बी ७ क० जा० माग
इलाहाबाद
११ अगस्त १९६८

सुमित्रानंदन पंत

डा० रामविलास शर्मा को
सस्नेह

रचना क्रम

पवन पुत्र

पतझर आया,
जन के मन में छाया,
पतझर आया ।
एक विश्व हो रहा विलय
निःसंशय,
काल-सर्प छोड़ता
जीर्ण केंचुल अब निर्भय ।
पतझर आया,
क्रान्ति-दूत-सा भाया,
पतझर आया ।

व्यक्ति ही नहीं
मेरे भीतर जग भी रहता,
एक समुद्र निरंतर बहता,—
भाव-तरंगों में मथित हो
गरज-गरज कर बहता
क्या साधना नर जीवन की ?
भव-सागर या लघु जल कण की ?

क्या न डुबा सकता हूँ,
मैं निज कूल—
लांघ सीमा
असीम बंधन की ?
क्या सार्थकता जग जीवन की ?

मैं महता उद्वेलन सहता,
भव-सागर मे बहता
तब तो तुम भी नही रहोगे
तट मर्यादा जो न सहोगे —
बांध प्रिया धरित्री तुमको
निज अंचल मे
थामे विधि करतल मे ।
भीतर भीतर ऊब-डूब कर
तुम अनमुख सदा रहोगे,
लांघ पुलिन
चित् चन्द्रज्वार मे
उड असीम की बांह गहोगे ।
सार्थकता है यही तुम्हारी,
लघु जल कण की,
भव जीवन की ।

तुम असीम के अंश,
अग क्षण बिन्दु तुम्हारा,
भूमा ही की सार्थकता मे
सार्थक अग जग सारा !
सृष्टि मुक्ति की कारा !

पतझर आया,
गृह मग वन मे अकुलाया,—
कौन संदेशा लाया ?

अर्ध सत्य वह !—
शाश्वत सत्य रे नव वसंत क्रम,—
पूर्ण सत्य के अंग उभय,
मिट गया सिंधु-भ्रम !

परिवर्तन विकास क्रम साधन,
परिवर्तन होता जिसमे
वह सत्य चिरंतन !

पतझर आया,
भव-कानन मे सहज समाया,—
पवनपुत्र वह, हनुमत्,
सृष्टि-त्रास-सा छाया !

चद्रकला

चद्रकला को उदित देख
नीलाभ गगन मे
जाने कैसा होने लगता
मेरे मन मे ।
मुझे चाद से अधिक
चाद की कला सुहाती
उस शोभा अकुर मे
विधि की कला समाती ।
वह न भकुटि, नख, असि ही —
मन की नाव मनोहर
प्राणो के माहित सागर तिर
मुझे अनश्वर
आभा के जग मे पहुचाती,—
जहा निरतर
खुलते दृग सम्मुख
अनिन्द्य आनद दिगतर ।

आ रहस्य-अगुलि,

इंगित पा मौन तुम्हारा
मुझे बुलाता-सा
अकूल का नील किनारा !
परा-चेतना लेखा-सी,
नभ उर में अंकित
तुम्हें अमृतमयि, करता
तन मन सहज समर्पित !

सृष्टि कला तुम,
स्वप्न तूलि से करती चित्रित
इंद्रधनुष स्मित
सप्त-लोक-श्रेणी सम्मोहित !

झर झर पड़ते
तारा-पद चिह्नों-से अगणित
सूक्ष्म भाव-संवेदन
रस-बाधा में बिम्बित !

खिंची शुभ्र अनुराग रेख
अंबर में भास्वर
तुम अनन्य शोभा से
उपक्रम करती अंतर !
प्रीतिपात्र-सी छलक
हृदय भर देती निःस्वर,
आ अनंत स्मिति, तुम पर
तन मन प्राण निछावर !

नील कुसुम

नील फूल हरता मेरा मन ।
वह क्या नयना का प्रतीक ?—
स्मित दृष्टि गगन मे जिसके
दग खो जाते तत्क्षण
निर्निमेष बन ?

या वह नील प्रदीप ?
नीद का
वातावरण बनाता जा
स्वप्ना से उन्मन ?
जो कुछ भी हो,
नील फूल
हरता मेरा मन ।

ना, वह चितवन नही,
नील आलोक भी नही—
वह असीम का आकर्षण,
अनत आमत्रण
पलक ठग मे रहत

पाकर एक झलक भर—
क्षण मे सुधि-बुधि खो
तन्मय हो उठता अतर ।

जगत् नही, मैं नही,
फूल भर रहता नि स्वर । —
निखिल चेतना को सवृत कर ।

मा, वह फूल नही,
वह फूल नही,—
तुम आती मूर्त रूप धर
सिमट फूल मे—
उसे निमित्त बनाकर ।

मुझे ज्ञात, मा,
मात्र तुम्ही हो,—
कुछ भी रहता नही
देह मन बुद्धि अह जब
जग भी नही,—
तुम्ही तब रहती हो
चिद् भास्वर,
उदय हृदय मे,
निभर ।

प्रिये,
तुम्ही सपूर्ण बोध मे
रहो निरतर,
रूप अगोचर
नील कुसुम बन सुदर
तन मन ले हर ।

गिरि-विहगिनी

कितन रगा के पखा से हो तुम भूपित
ओ गिरि-विहगिनि, रश्मि-ज्वाल शोभा में वेष्टित,
रग-कुवर बनाया लगता तुमको विधि ने
सुरधनुआ की रत्न-तूलि से कर तन चिन्नित !

वग-चयन मे या तुमने ही कला-दृष्टिमयि,
वर्णों का वैभव अपनाया दीप्त चमत्कृत ?—
यह जो भी हो, ओ निजन तरवन की वासिनि,
तुम मेरे उर को प्रिय छवि से करती मोहित !

कहते, रग छटाएँ भावो की प्रतीक भर,
तुम धनाढ्य हो उर की सपद् मे भी निश्चय,
नील हरित सित रक्त पीत धूमिल पाटल तन,—
नया कल्पना लोक दृगा मे खुलता छविमय !

विहगिनि, एकाकी मै, बठा तरु-छाया मे,
देख रहा हूँ ग्रीवा-भगि तुम्हारी सुदर,
चपल पख फडका तुम, कुदक-फुदक डाला पर,
अस्फुट स्वर भरती, सभव, मुझसे मन मे डर ।

तुम विश्वास कही कर सकती मेरा, रगिणि,
समुद उतर आती नीचे मेरी गोदी पर,
मैं कितना पुलकित होता तुमसे बातें कर,
तुम्हे मधुर पुचकार, अक भर, ले आता घर !

दाने तुम्ह चुगाता, मेवे मीज मीज कर,
पानी पी आश्वस्त, सहज कधे पर सिर धर,
जब तुम सो जाती, मैं तब तक बैठा रहता
मौन प्रतीक्षा मे, प्रतिक्षण रक्षा हित तत्पर !

तुम्हे पीजडे मे क्या मैं बदिनी बनाता ?
तुम चाहे जब भी उडकर वन मे जा सकती,—
कूक चहक जब तुम्हे बुलाता स्नेही सहचर
मधुर रग सगिनियाँ बाट तुम्हारी तकती ।

आत्म-ताप का मुक्त गीत गाती तुम तरु से
हृप ध्वनित लहरी मे बँधता निखिल दिगतर
प्रात फिर तुम आती, मैं उठ करता स्वागत,
मौन स्नेह का हम करते उपभोग परस्पर !

कभी गोद ही पर बठी तुम गाने लगती,
शब्दा से भी अधिक अथ गर्भित होते स्वर,
ओ वन-शोभा की प्रतिनिधि, प्रिय रग-अप्सरे,
बिना कुछ कह, सहज खोल देते हम अतर ।

उपचेतन के अवबाधो से परिचालित तुम
मन को करती सहज उडानो से नित हर्षित,
रोमिल ज्वाला के पखो से चित्रित कर नभ,
अग-भगिमा से कर सुरधनु-सेतु विनिर्मित ।

तुम मनाल डफिया की वशज, खग-कुल दीपक,
सूय-रश्मियो के रँग अगो म रुचि वितरित,—
जो भी हो,—निष्काम प्रेम पशु पक्षी जग का
मनुज चेतना का अनजान करता विकसित !

मूक प्रेम यह, मुखर प्रीति से कही गहनतर,—
होता आदि निगूढ हप का उर को अनुभव,
भाव प्रबोधिनि, कभी वधिक नर हो जब सस्कृत
गोदी मे उड, तुम उसके सग खेलो सभव !

भाव और वस्तु

चपल कपोत तडित् गति से
द्रुत मँडरा सिर पर
मुझे घेरते
धूपछाह के पर फडका कर ।
क्या जाने कहते मुझसे
अस्पष्ट कठ-स्वर
रोमिल तन की ऊष्म गध
नासा-पुट मे भर ।

मुझे सदेह उडा ले जाते
भाव-गगन मे—
भाव-बोध की छायाएँ
शत बरसा मन मे ।

क्षण स्तभित,
मैं उनसे कहता नव युग प्रेरित—
"भाव नही चाहिए,
भाव जग को न अपेक्षित ।

अब नव युग निर्माण
चल रहा भू-प्रागण मे,
हमे प्राविधिक बोध चाहिए,
पशु-बल तन मे।
नव यथाथ का ज्ञान,
सांख्यिकी, जन भू गणना,
हमे चाहिए नई योजना,
सफल मन्त्रणा।
हमे अन्न गृह वस्त्र
जुटाने जनगण के हित,
प्रजा-तंत्र सँग
नया यंत्र-युग करना निर्मित।

"भावो से क्या होगा?
वे है मनोवाष्प भर
स्वप्न-नीडवासी, नभचारी,
सुरधनु के पर।"

"जग अभाव से पीडित,
ठीक तुम्हारा अनुभव,"
बोले वन के हारित,
कानो मे भर कलरव।

"भावो ही को तो
भू जीवन मे कर मूर्तित
तुम्हे वस्तु जग का वभव
करना सर्वार्पित।

"निखिल योजना, यंत्र तंत्र विधि

भाव मात्र हैं,—
भाव-शक्ति से शून्य लोकगण
रिक्त पात्र हैं ।

"भू-शिल्पी बनने को
भावों का आराधन
तुम्हे चाहिए,—
जीवन कृषिफल, भाव अमृत-घन ।

"भाव हीन जन प्राण-हीन,
मन मे जीवन-मृत,
जड प्रपच यह,
भाव-शक्ति की सृष्टि अपरिमित ।

"भाव-वस्तु नित
शब्द-अर्थ-से युक्त परस्पर—"
पारावत उड गए,
अभाव धरा-मन का दूर ।

आत्म-चेतन

लोग सोचते,
वृक्ष ऊर्ध्व करते आरोहण,
मुग्ध देखते नभ का आनन,
सूर्यमुखी पा दृष्टि,—
न भू जीवन के प्रति
रखते संवेदन !

नहीं जानते,
उनके कितने गहरे मूल
धरा जीवन में,—
बिना गहन पैठे
कोई ऊपर उठ सकता ?
जिसकी जड़ ही नहीं
कहीं वह वृक्ष पनपता ?

सच तो यह है,
ऊर्ध्व दृष्टि ही
गहरे घुस कर

सहज उतर सकती जन-मन में ।

मैं जीवन में सोचता रहा,
खोजता रहा, खोजता रहा,
कभी ऊर्ध्वमुख, फिर अंतर्मुख,
कभी बहिर्जग में भी बहा ।
अब लगता,
मैं अपने ही को
खोजता रहा, व्यग्र निरंतर,
मेरा ही बहुमुख प्रसार था
बाहर, भीतर, ऊपर ।

मुझे आत्म-विस्मृत कर
तुमने इंगित किया—
तुम्हें खोजूँ मैं
जड़ में, जग में,
वन में, मग में,
बहु रूप में
सुखद सुभग में ।

चिंतन रत मन,—
बीता शैशव, बीता यौवन,
रुका नहीं मैं कहीं एक क्षण,—
बाहर भीतर जिया,
किया अविरत अन्वेषण ।
सतत बोध-पथ में हो विकसित
होते रहे हृदय में तुम
संचित, संयोजित ।—

आया ऐसा भी तब शुभ क्षण
विला गया सब उर का चितन,
छूट गई विस्मृति सहसा
हो उठा आत्म-चेतन मन ।

मैं ही फला था अग-जग मे,
मैं ही सिमट गया फिर
अत केंद्रित, स्थित बन ।

अब अपनापन ही अपनापन
मैं, तुम या जग
बिलग नही थे हुए एक क्षण,
सदा एक ही रह प्राणपण !
ऊर्ध्व, गहन, व्यापक—
यह प्रज्ञा का त्रिकोण भर !
केन्द्र बिन्दु तुम
व्यक्त हो रहे
बाहर भीतर
नीचे ऊपर
स्वय निरतर !

गिरि कोयल

विस्मय से अभिभूत,
प्राण हो उठते पुलकित,
हृष प्रराहित रोम,
तुम्हारी ध्वनि सुन प्रेरित—

ओ गिरि कोकिल,
हृदय फाड तुम गाती स्वर भर,
'काफल पाका, काफल पाका'—
गुजा दिगतर ।

सचमुच, काफल नही
वनैले खटमिट्ठे फल,
वे प्रतीक रस-गुह्य—
जानता कवि अतस्तल ।

भला नही तो कसे
शोभा के दिगत स्मित
खुल पडते उर मे
ध्वनि सुन आनद उच्छ्वसित ।

कैसा गिरि परिवेश
जहा तुम रहती छिपकर,
नव वसत दिङ्मुकुलित
वन ही निभृत रम्य घर ?
गध मरद समीर
व्यजन करती-सी प्रतिक्षण,—
वन ममर के क्षितिज
गूढ करते सभापण ?
उपा नील ढाला पर लटी
हरती क्या मन ?
नीरव ज्योत्स्ना
गाने का देती आमत्रण ?
रजत प्रसारा मे उडती
शाभा मे नि स्वर
स्तभित-सी सुनती वह क्या
ममस्पृक् प्रिय स्वर ?

कितने रगा के प्रिय पख
तुम्हारे सुदर ?
धूपछाह रत्नच्छाया के
रामिल भास्वर !

कभी न देखा तुम्हें
सुना भर उन्मद गायन,
सूक्ष्म सजन प्रेरणा स्रोत-सी
तुम चिर गोपन !

तरुवन के नभ मे
अरूप पावक की-सी घन
उर ज्वाला मे मुकुलित करती
मधु के दिशि-क्षण !
प्राणो की सौदर्य भूमि मे
पली असशय
तुम जीवन आनद छद की
प्रतिनिधि अक्षय !

यही सहज आनद
प्रवाहित मुझमे प्रतिपल,
हम स्फुलिंग एक ही चेतना के
कवि-कोयल !
इसीलिए करती तुम
जन-मन को आकर्षित,
एक मर्म उल्लास
विश्व मे मौन समाहित !

जग मे ऐसी स्थितिया भी
जो उपजाती भ्रम,

राग द्वेष, रुज्, आधि व्याधि,
व्यापक सुख दुख श्रम ।

मैं अपने को पाता
उन सब से संबधित
सत्य ज्योति, आनद प्रीति से
जो सत्-प्रेरित ।

विश्व-चेतना प्रमुख,
व्यक्तिगत अह गौण नित
हमे चाहिए द्रष्टा स्रष्टा
भू प्रति अर्पित ।
सुन उन्मेषित गीत
नही मन मे अब संशय
भीतर ही आनद स्रोत—
जीवन हो तन्मय ।

मानव सौन्दर्य

किस नव श्री सुषमा-प्रतिमा का
शिल्पी मुझे बनाने, कविते,
स्वप्न नीड तुम रचती
गोपन मेरे मन मे ।
आत्म-मुक्त हो गाती तुम
अपलक उडान भर
हस-पख फैला असीम
सौ दय-गगन म ।

कलात्मिका प्रेरणा सृष्टि तुम
अधदृश्य कमनीय कल्पना की काया मे,
कँपती भावो की
रत्नम्मित शोभा अतुलित
मनोव्याम मे लिपटी
तनु सुरधनु छाया मे '
अतमन के अतरिक्ष मे मुझे उडाती
चिदाकाश मे खोजू मैं सौ दय अपरिमित,—
रश्मिज्वाल चत य द्रव्य से

सुदरता की भाव-मूर्ति
नव करूँ विनिर्मित ।

आत्मा के अनि अतल अकूल
सिंधु मे मज्जित
खोजूँ मैं आनद विभव
अनिमेष समाधित,
रत्नाकर-सपद् की
चिन्माणिक ज्वाला से
भाव-बोध को करूँ
चेतना-अचि प्रदीपित ।
विश्व चेतना क्षितिजो म
विचरूँ दिग् विस्तत
छायालोको की
वचित्र्य विभा कर गुम्फित—
बुनूँ तुम्हारे लिए
वसन जीवन शोभा के
अभिनव मूल्यो के तानबानो से भूषित ।

तडित-प्रकपित प्राणो के
उन्मद मेघो सँग
भटका करता मैं
सुरधनु आकाक्षा पावक म सतरजित
भावावेगो से
अनुभूति जनित सत्यो मे
शोभा का अतर कर सकूँ
भाव लय झकृत ।

आध्यात्मिक स्रोता का
अक्षय अमृत पान कर
उतर अत मे आता मैं
जन-प्राण धरा पर —
मनुज-हृदय ही का सौन्दय
मुझे सवाधिक
भाता, जो नवनीत सत्य का
चिर श्रेयस्कर ।

मैं भू - जीवन का कवि,
मानव-उर-शोभा मे
गढता मूर्ति विराट्
विश्व मस्कृति की प्रनि[illegible],—
सयोजित कर
भाव-विभव वैचित्र्य [illegible]
बिम्बित हो जिसमे
अनिन्द्य भावी [illegible] ।

तारा चिन्तन

कैसा विस्मयकर लगता
पर्वत प्रदेश का प्रिय तारापथ
कहीं न कोई जिसका इति अथ,—
निर्निमेष दृग् फैला ऊपर
क्षौम मसृण हो नील चँदोवा
कढ़ा मनोहर !

लिपटी-सी द्राक्षा लतिकाएँ
मधु रस प्लावित
घने नीलिमा के बाड़े में विस्तृत—
अगणित ताराएँ
मधु छत्ते पर-सी पुंजित
करती दृष्टि चमत्कृत !
अंधकार के झीन अवगुंठन से आवृत
करती वे मन को चिंतन में मज्जित
क्या रहस्य दिग्व्याप्त,
गुह्य घन अंधकार का
प्रश्न पूछती हों अपने से विस्मित !

ऐसा नही कि
तत्त्व-बोध की सूर्य-ज्योति मे
उर को कर अवगाहित,
तम की सत्ता को
अभाव की सत्ता बतला,
कह मिथ्या, अज्ञान जनित भ्रम,—
करती पूर्ण उपेक्षित ।
क्या उपयोग तमस् का
भू-जीवन रचना मे ?
निज सहस्र नेत्रो से झाक हृदय मे
तारा
करती मानस-मथन—
कौन ज्योति-तम से भी परे,
जगत् का जो
अतर-पथ से करती सचालन ।
अपरिमेय उस सृजन-शक्ति के
ज्योति तमस् नि सशय ही
दाएँ बाएँ कर,—
समाधान सभव न
एक को सत्य
दूसरे को मिथ्या बतलाकर ।

मात्र ज्योति से—
द्रष्टा भर जो—
यह विराट् ब्रह्माड न सभव सर्जित,—
उदित अस्त होते रवि शशि,
विस्तृत तारापथ
चिर असीम स्वर-लय सगति मे गुम्फित ।

षड् ऋतुएँ करती नत्तन,
सौ दय मधुरिमा
प्रीति प्रहृप धरा पर करते विचरण,
स्वग-मत्य को
इद्रधनुप स्मित स्वप्न-सेतु मे
सदा बाँधता ही रहता मानव मन !

चित् प्रकाश स भी रे
जड तम अति रहस्यमय,
बाध दष्टि से
तम ही का अ वेषण साथक निश्चय ।
मानवता का सौध
धरा पर कर निर्मित
चरिताथ हमे यदि करना
जन-भू जीवन ।
जाग्रत् तारागण
आवरण उठा तम मुख से
इगित करती हो ज्यो सत्य प्रयोजन, —
वोध प्राप्त करने के सँग
यदि रहना जगती मे सुख से
तो ज्योति तमस् का
भू जीवन मे करे साग सयोजन !

ज्योति तमस् के,
जड चेतन के भेद मिटे
जन भू मगल हित
बँधें उभय ही
भर प्रगाढ आलिगन ।

सत्य परे नित ज्योति-तमम् मे
प्रीति पाश मे बाधे वह जड चेतन ।
एकागी भौतिकता
आध्यात्मिकता दोना,—

ज्योति-कर लिखित
अर्ध रात्रि के नीरव तम मे
ध्यान-मौन नभ मे
तारापथ दर्शन ।

याथातथ्य

ओ ऊपर के सत्य,
अधूरे हो तुम निश्चित,
भू का सत्य करेगा
तुमको पूरा विकसित ।

तुम अरूप,
मासल अगो मे होगे मूर्तित,
रज स्पर्शो से
उर-तत्री होगी रस झकृत ।

काल हीन तुम, एक रूप,
ऊपर निष्क्रिय स्थित,
क्षण के पग धर
तुम इतिहास बनोगे जीवित ।
प्राणो की आकाक्षा
तुममे गहराई भर
सुख दुख वेगो से
पुलकित कर देगी अतर ।

भव चिंतन की बोध-रश्मि से
हो उद्दीपित
पाओगे चित् नभ को तुम
श्यामल सुरधनु स्मित ।

मनुज हृदय के प्रेम स्रोत में
कर अवगाहन
तुम स्वीकार करोगे
मर्त्य दु ख-सुख बधन ।

सीमा के भीतर
असीम बन कर नि सशय
साधक होगा
देश काल का जीवन सुखमय ।
जन-भू के प्रागण म
तुम होकर सस्थापित
भव विकास क्रम मे
होगे युग-युग सवर्धित ।

नित नव परिचय पा निज
उर होगा सुख विस्मित,
शुद्ध चेतना होगी
श्री सुषमा से मडित ।

तुम एकाकी रहते थे
नभ अतस्तल मे—
भू ने तुमको बाँध लिया
निज रज अचल मे ।

चुन चुन कन, शावक मुह मे भर,
शिशु-खग को उकसा
अनत उर मे उडान भरना सिखलाता ।

यदि केवल लेना ही जग मे,
देना तनिक न जन भू मग मे,
स्वार्थ-समर ही तब पग पग मे,—
अपने को अतिक्रम कर जीना
नर वरेण्य को सदा सुहाता ।
यदि न सुकृत ही शेष धरा पर
तब फिर कहाँ जगत् मे ईश्वर ?
निज हित मे रत सकल चराचर—
औरो के हित भी रहता जो
वही मुक्ति निज पर से पाता ।
जीवन म आते सकट क्षण,
राग द्वेष करते उर मे व्रण,
दु स्मृति से भर आते लोचन,—
पर जब ज्वार हृदय मे उठता
सुख दुख कूल बहा ले जाता ।
खग रह-रह तरु वन मे गाता ।

कवि कोकिल

जन्मजात कवि तुम निसर्ग प्रिय, अयि गिरि कोयल,
गाती हो स्वच्छंद,—हृदय तन्मय उँडेल कर,
स्वर-मोहित-सी लगती घाटी, दिशि रोमांचित,
श्रवण उठा सुनते वन पशु खोहों में नि स्वर !

प्रतिध्वनित होती स्वर-लहरी गिरि शिखरों से,
भू विराट्-वीणा सी बज उठती स्वर-झंकृत,
झूम-झूम नाचते मुग्ध तरु-लता ताल पर
चीड, बाज, वन देवदारु, सिर हिला अतंद्रित !

सारा वन-प्रांतर ही हो उठता आह्लादित,
जड-निद्रा तज, जग उठते विस्मय हत पर्वत,
नव प्रभात छवि-स्नात, मर्म-ध्वनि से उन्मेषित
प्रकृति चेतना लगती नव शोभा में जाग्रत् !

विजन नीड़ में जन्म, पली तुम, पिक, बन परभृत,
पर अंत संस्कार भला कब होते विस्मृत ?
जाति विविधता सँग विशिष्टता भी संरक्षित,
विजय कूक भर प्रथम, उड़ी तुम नभ में विस्तृत !

जिन द्रव्यों से विविध वस्तुएँ बनी विश्व की
उनसे पृथक्—विशिष्ट द्रव्य की हो तुम निश्चित
कहीं गहन, उन्नत, व्यापक, ये उर-पावक स्वर—
नहीं भला क्या होता अग-जग गीति समाधित !

विहग और भी चहका करते गिरि प्रदेश में,—
आभिजात्य जो गरिमा मुग्ध तुम्हारे स्वर में,—
उर-मधुरिमा—नहीं संभव अन्यत्र कहीं वह
झंकृत हो उठती सुर-वीणा सी अंतर में !

कोकिल, क्या कवि कम ? बहिर्मुखता में खोए
जीवन को अंतर-स्वर-लय में करता केंद्रित,
मनुज हृदय फिर छेड़ मर्म धुन अंत प्रेरित,
जिसमें जग के भेद भाव हो जायँ निमज्जित !

देख रहा, तरु जग, वन मृग, गिरि शृंग, गगन भी
आज एक सर्वात्म भावना में-में छंदित,
छूता चेतनता की सूक्ष्म गहनताओं को
गीत तुम्हारा, सृष्टि सत्य मुख कर उद्घाटित !

इस स्वर्गिक आह्लाद, अमर आलोक-स्पश को
नत्र जन-भू जीवन मे होना श्री-सयोजि
मूत मानुपी-सत्य न वह जब तक बन जाए—
भू-रत हृदय नही उसको कर सकता स्वीकृत।

ओ कवि कोयल, सजन चेतना जग-जीवन की
कलात्मिका, अग जग रहस्य-द्रष्टा भी निश्चित,
ज्ञात उसे, सदसत्, आलोक-तमस् को कमे
सृष्टि-पूणता मे करना सपूण नियोजित।

श्री शोभा आनद भावना से प्रेरित हो
शकुनि, गीत-कवि बनना सिद्धि महत् नि सशय,
पर, जो स्रोत निखिल ऐश्वर्यों की त्रिभुवन मे
उसमे रहना चाहूँगा मैं अतस्त मय।

विश्व विवर्त्तन

कैसी पद-चापें सुनता मैं
अस्फुट नि स्वर
कौन न जाने चलता
जन मन की धरती पर !

तारे भी कुछ गोपन सा
करते सभायण,
रोमाचित सा फिरता
उन्मद गध समीरण !

भूधर पग धर चलता
दुर्जय विश्व विवर्तन —
प्राणो के उपचेतन —
सागर मे उद्वेलन !

स्वप्न-प्ररोहित नव शोभा से
जन-भू प्रागण,
आशाऽऽकाक्षा से अपलक
जनगण के लोचन !

मौन प्रतीक्षा मे रत
आज युवक-युवतीजन—
नव यौवन का देता युग
जन-भू का शासन !

उनको ही नव युग जीवन
करना सयोजित
निज इच्छाओ के अनुरूप
उसे कर निर्मित ।

जीण शीण कर ध्वस्त
भेद गत युग के मज्जित,
नयी एकता करनी
मानव जग मे स्थापित।

विश्व सभ्यता का मुग्य करना,
नव रुचि सस्कृत,
भू-जीवन के प्रति कर
तन मन पूण समर्पित !

भाव-प्रवण मेरा अतर
करता आवाहन,
आओ हे नव मानव,
करो धरा पर विचरण।

कम प्रेरणा के अचल म
बाधो उवर
जीवन का आनद,—
धरा मुख हो दिक्-सुदर।

नये रक्त मे करो
सभ्यता का सचालन,
समता पूवक कर
सुख सुविधाओ का वितरण।

नया मूल्य मानव आत्मा को
दना निश्चय,
जन-भू युवको
आस्थावान् बनो, दढ, निभय।

गीत प्रेरणा

मेरा मन गान का करता,
नही जानता क्या गाएगा,
कौन भाव अतरतम मे जग
मेरे प्राणो मे छाएगा।
पौ फटने पर निभृत क्षितिज
ज्या हो उठता स्वर्णाभा मडित,
वसे ही उर बोध विद्रवित
हो उठता नि स्वर उन्मेपित।

गोपन स्वर-सगति मे जाने
उर-तन्त्री कैसे बँध जाती,
सरमी मे लहरी-सी कँप
झकार स्वत ही ज्या उठ आती।

गाना मेरे एकाकी प्राणो के
जीवन का मधु स्पदन,
वे अपना प्रच्छन्न प्ररूप
प्रकट करते गा-गा कर प्रतिक्षण।

मेरी आकाक्षा का पावक
गाने ही से होता शीतल,
वह अतप्त रह मुझे तपाता,
अतर को रखता रस विह्वल।

भू सघषण भी मन मे छन
गीतो मे होता प्रतिध्वनित,
झञ्झा के झाके करते जब
हृदय-सिन्धु का निमम मथित।

कही खडा चतन्य अडिग
पवत-सा, देता मुझे प्रबोधन,
युग विवत क मुख से सहसा
उठ जाता क्षण भर को गुठन।

गाने का महत्त्व मेरे हित
जाग्रत् रखता मुझको मन से,
गुह्य सून मे बाध प्राण,
कर देता युक्त जगत् जीवन से।

कभी सून बन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर
अतर को कर देता तमय,
जग जीवन से पर चेतना
काई उर को छूती निश्चय।

अवचनीय रस गीत-बोध
मेरे मानस का करता प्रेरित,
तब मैं नही, और ही कोई
होता स्वर्गिक गायक अविदित।

वय प्राप्त अगा मे फिर से
वहने लगता अतर्यौवन,
भावी मानव चिद् वभव का
वनता चेतस् तद्गत दपण।

सृजन-नृत्य करते प्राणा मे
श्री शोभा आनद चिरतन,
अपन को अतिक्रम कर गाता
मन नव युग-जीवन के गायन।

भाव शक्ति

मेघा को जाता मैंन
धूमिल क्षितिजा पर,
स्वप्न वीज बो
अश्रु वारि से साचा भर झर ।

इंद्रधनुष उग आए उनम
जब दिग् विस्तन,
कहा जना से —
सेतु रचे मैंन सतरजित ।

चाहो, पार करा इनमे
दुस्तर भव सागर,
मुझको पागल समझ,
विहँस, मुख फेर चले नर ।

मैंन गहरा जोता अबके,
पावक बोया
प्राणा का रस घोल,
उन्हे जी खोल भिगाया ।

कडक उठे जब शक्ति मत्त
बादल भर गर्जन,
चौंके लोग, बदलता देख
दिशा भ्रू आनन ।

किया घना ने निज को
जब दिगंत विज्ञापित
ध्यान जनों का गया—
किया नभ ने क्या घोषित !
फिर भी आस्थाहीन हृदय मन
रहे सशंकित,
धैर्य घना का टिगा,
गगन से विद्युत् दर्पित
वज्रपात द्रुत हुआ,—
धरा डोली, गिरि स्तंभित ।

अब सचेत, लोगों ने सोचा
मन मे खा भय,
उमड घुमडने वाले
वाष्पो मे भी निश्चय
महत् शक्ति असि छिपी,—
ध्वस्त कर सकती क्षण मे
जब चाहे, तरु वन पवन,
जन भू का, रण म ।

बृहद् भावना भूमि
मनुज ने की जब स्वीकृत
बोध शिखर से टकराए घन,
मन मे हर्षित ।

उठ दीमत उपचतन
खोहों से जग प्रतिपल,
छुआ चेतना आरोहों को
शात समुज्ज्वल—

द्रवित शुद्ध-उर,
बरसे धरती पर धाराधर
जन-भू को कर शस्यश्यामला,
जीवन-उवर ।

मुक्ता-लडियां से अब
जन-उर अवर शोभित,
भाव विभव से
जन भू का जीवन सपोषित ।

बुद्धि मात्र ऋण-पथ दशक—
भावना शक्ति जब,
उच्च चेतना ही से
भव रूपातर सभव ।

सोपान

क्या मेरा कर्तव्य समापन ?
नयी पीढ़ियों को कर दूँ
कवि-कर्म समर्पण ?

इसमें मति-भ्रम निश्चय ।
मेरा कार्य सदा मेरा ही,
मुझे न इसमें संशय,
नयी पीढ़ियाँ
इसे न कर पाएँगी—
तनिक न विस्मय ।

उनके सम्मुख खुला क्षितिज नव
करता उन्हें निमंत्रित,
वे स्वीकार करें युग-आग्रह,
हो जन से अभिनंदित ।

जग विकास-क्रम में रे अविरत,—
उस विकास का एक चरण मैं,

एक चरण वे निश्चित,
अपने ही युग की गतिविधि से
हो सकते हम प्रेरित—
जिसको निज कृति मे कर अकित,
सत्य-रूप ही को करते हम बिम्बित !

व्यक्ति विश्व-जीवन
अनादि से रहे परस्पर निभर,
जीवन सत्य अखड,
पूण वह प्रति पग पर,
प्रति क्षण पर !

मैं अपने युग का प्रतिनिधि हूँ
जग-जीवन प्रति अर्पित,
काल-भोग्य पीढिया मुझे
कर सकती रच न खडित !

मै सोपान अनत श्रेणि का,
अपने कधा पर धर
पार पीढिया को पहुँचाता—
काल बोध अति दुस्तर !

विज्ञान और कविता

कभी सोचता, इस विराट् वज्ञानिक युग मे
कवि की हृत्तत्री का क्या उपयोग रह गया ।
जहा आज सिद्धो ही के-से चमत्कार नित
वज्ञानिक दिखला कर बुद्धि चमत्कृत करते ।

आज रेडियो, फान, दूरदशन के अचरज
सब बासी पड गए,—गरुड-से वायुयान भी ।
विकसित हो यात्रिकी असभव को भी सभव
कर सकती, अब बदल असभव की परिभाषा ।

अब विद्युत् मस्तिष्क हो चुके पैदा भू पर
कप्यूटर,—सब काय कर सकेंगे मनुजो का ।
विश्व सवहन के साधन बन वे भविष्य म
भेजेंगे सदेश, दिशाओ से बातें कर ।
दूरभाष का भी सवाद तुरत ग्रहण कर
उस आपको सूचित कर देंगे, आने पर,

यह भी सच है सीमित है यह विश्व, सभी कुछ
परिमित इसमें, अक्षय नहीं कहीं भी कुछ भी।
कभी एक दिन इसकी सारी द्रव्य शक्ति
चुक सकती क्षय हो। किन्तु जगत् में तब आत्मा का
शून्य अस्थिपंजरवत् शेष रहेगा मानव।
हतप्रभ महत् पाप से पीडित आत्म नाश कर।

अब भी कवि की हृत्तन्त्री की सार्थकता है।
चेत सके मानव उसकी स्वर संगति में बँध।—
उसकी लय में तन्मय हो पा सके स्वयं को।
मनुज-सत्य ही निखिल जागतिक-सत्य असंशय।

स्फुरित हो रहा मनोदृगों के सम्मुख वह युग
जब भौतिक सुविधा संपन्न प्रसन्न धरा पर
पूर्ण सांस्कृतिक शोभा में कुसुमित नव मानव
विचरेगा श्री-सौम्य, कला वैभव से सुरभित,—
मूर्तिमान् अध्यात्म तत्त्व सा,—विस्मित भूचर
समझ न पाएँगे, यह मनुज, देव या ईश्वर।
सार्थक होगी यान्त्रिकता नर-चरणों पर नत।

निसर्ग वैभव

कितनी सुदरता विखरी
प्राकृतिक जगत् मे, ईश्वर,
टपक रही गिरि-शिखरो से झर,
लाट रही घाटी मे
लिपटी धूप छाह मे नि स्वर !

अनिल स्पश से पुलकित तृण दल,
बहती सीमाहीन
श्लक्षण सगीत स्रोत-सी
अहरह वन-भू ममर !

फूलो की ज्वालाएँ
आखें करती शीतल,
मुकुल अधर मधु पीते
गुजन भर मधुकर दल !
तितली उडती,
दूर, कही पल्लव छाया मे
कुक कुक गाती वन-प्रिय कोयल !

देवदारु के ऊर्ध्व शृग
लगते जिज्ञासा-मथित,
नीचे फूलो की घाटी
प्रतिपग दृग करती मोहित ।

लेटी नीली छायाएँ
कृश रवि किरणा मे गुफित,
दुरारोह भाती ढाले,
निश्चल तरग-सी स्तभित ।
स्वण-भाल गिरि सवप्रथम
करते उषा अभिनदन,
साझ यहा सोती छिप,
निजन म कर सध्यावदन ।
अपलक तारापथ शशिमुख का
बनता लेखा-दपण,
यही शल कधा पर सोया
जगता गध समीरण ।

सद्य स्फुट सादय राशि
सम्मोहन भरती मन म,
कितना विस्मयकर वैचित्र्य
भरा पवत जीवन मे ।

खग चखते फल,
कुतर रही गिलहरिया कापल,
वन पशु सब लगते प्रसन्न
परिचित मरकत आगन मे ।

स्वाभाविक,

यदि मुझे याद आता
ईश्वर इस क्षण मे !
जड जग इतना सुदर जब
चेतन जग मे क्या कारण
रहता अहरह जो
विषण्ण जीवन मन का सघर्षण ?
मनुज प्रकृति का करना फिर
नव विश्लेषण, सश्लेषण,—
ईश्वर का प्रतिनिधि नर,
अभिशापित हो उसका जीवन ?
लगता, अपनी क्षुद्र अहता ही मे
सीमित, केंद्रित,
छिन्न हो गया विश्व चेतना से
मानव मन निश्चित !

सूख गया आनद स्रोत
वन जीवन जिससे प्रेरित
बहिर्भ्रांत मानव का फिर
होना अन सयोजित ।

सरिता

बहती आशा बहती
फेनिल जीवन धारा
बधन नही विमुक्ति
तुम्हारे लिए किनारा !

तुम गिरि के पाषाण हृदय से
फूटी निभय,
यह अपने ही मे रहस्य
सरिते, नि सशय !

अब तक तुम गिरि क
अतर ही म थी सचित,—
गति विहीन बदिनी सही —
पर थी सरक्षित !

अब स्वतन्त्रता का तुम
प्रतिक्षण मूल्य चुकाओ,
उठो, गिरो, गरजो,
पर आगे बढती जाओ !

गति विधि स्वय सँभालो,
घूमो, मुडो निरतर,
जैसी भूमि मिले,
पथ बदलो, मत खो अवसर !
यह कैशोर तुम्हारा,
उछलो, कूदो, गाओ,
फूलो सँग हँस खेलो,
कूलो मे बिलमाओ !

नव जल भार समेट
पीन छवि अगो मे भर
युवती बन तुम भेटोगी
कूजो को नि स्वर !

धूपछाह की वीथी मे
विचरोगी निर्जन,
सभव, विस्मय वहा
प्रतीक्षा-रत हो गोपन !

नहीं जानता कोई
विधि को कब क्या स्वीकृत,
उसकी देन अपार—
घटित हो सकता अघटित ।

राजमराल मिथुन
जल मे तिरने आजाएँ,
पख खोल, चचल लहरो को
गले लगाएँ ।
उनकी प्रिय गति, ग्रीवाभगी
तुमको भाए,
चद्रलोक की शोभा
उतर धरा पर आए ।

शनै प्रौढ तुम
समतल पर विचरोगी विस्तत,
तारों की छाह
हार-सी उर मे शोभित ।

शात वेग, गति भी न रहेगी
अब ऋजु कुचित
उन्च कगार वहगे जल मे
दुहरे बिम्बित ।

सूय चद्र भी प्यास वुझाने
उतरेंगे नित
ज्वाला की जिह्वाएँ जल मे
डाल प्रलविन !

पार लगाओगी तुम
कितनी नाव निरतर,
सहृदयता का यही धर्म,
गिरिवाले, दुस्तर !

अभी देखना मत
सागर सगम के मपने,
हमे नियति को
वश मे रखना होता अपने ।
वहने ही मे भव-गति,
सघपण ही जीवन,
सिधु-शाति निमम
जीवन-गति-इति की दपण !

गाओ, वहती जाओ,
हँसमुख जीवन धारा,
गाने ही का
हम दाना को रह महारा !

मुक्ति और ऐक्य

व्यक्ति-मुक्ति, सामूहिक ऐक्य न जब तक
सयोजित होगे जन-भू-जीवन में—
शाति न सभव, विश्व विकास दुराशा,
सघर्षण मे बीतेंगे जीवन क्षण !
व्यक्ति मुक्ति उच्छृङ्खलता के स्तर पर
अभिव्यक्ति पाती अब,—सामूहिकता
यान्त्रिकता का बन पर्याय, मनुज को
बहिर्भ्रांति जग के मरु मे भटकाती ।

हृदय शून्य नर आत्मा से भी वचित,
यत्र मात्र बन रहा जगत जीवन का,
आत्मा का गुण मुक्ति,—जगत् जीवन हित
सामाजिक एकता परम आवश्यक !
निश्चित, विकसित होगा जब भू जीवन
आत्म-ऐक्य मे बँधे निखिल नारी नर
जीवन मुक्त विचर पाएँगे भू पर,—
मुक्ति ऐक्य सपृक्त लहर-सागर-से !

जीवन गुण आत्मा मे, आत्मा का गुण
जीवन म तव परिणत होगा अविकृत।

भाव-शून्य उर वस्तु-जगत् मे खोया
घातक नर हित, वस्तु-जगत्-सुख वचित
मात्र भावना केन्द्रित जन-अनर भी
पातक जन-भू जीवन के श्रेयस् हित।
भाव-वस्तु मे सामजस्य परस्पर
सतत अपेक्षित भव विकास-गति-क्रम मे
वहिरतर सित सयोजन हो स्थापित,—
मनुज प्रेम से प्रेरित हो, प्रभु आश्रित।

आत्म प्रतारण

मैंने सुना घनों को भरते
तड़ित्-दभ दिग्-गजन,
देखा, फेन-श्वसित सहस्र फन
सागर का उद्वेलन !

देखे, ऊर्ध्व भयावह
आरोहों के दुगम भूधर,
गहरी दरियों में सोया
घन अधकार दृग्-दुस्तर !

अति निदय वधव्य
चीरता नव मुग्धा उर कातर,
सुत विछोह म शोक-पीत
जननी को मूर्छित नि स्वर !

साध अब नर कसे लता,
निज प्रतिशोध भयकर,

आत्म ग्लानि की खर तुषाग्नि मे
कसे जलता अतर।

देखा मैंने देश प्रेमियो का
उत्सग अलौकिक,
रक्त कणा की माणिक ज्वाला
करती दीप्त चतुर्दिक्।
देखे मैंने पागल प्रेमी
करते प्राण निछावर,
दग्ध-हृदय, उद्भ्रात चित्त,
आखो मे सावन की झर।

भखो के नगे ककाल
विचरते निमम जग मे—
अनाचार अन्याय दिखा
भू-जीवन मे पग-पग मे।

इन सब मे सौंदय मुझे
मिल सका कही कुछ गोपन,—
यदि कुरूप कुछ लगा—
सभ्य मानव का आत्म-प्रतारण।

गुह्य आवरण डाले मन मे
आत्म-तप्त फिरता नर,
प्रकृत मत्यु सुदर—
पर जीवित आत्म मृत्यु दारुणतर।

उन्नयन

मन को जो होते रहस्यमय अनुभव
अभिव्यक्त करना क्या संभव उनको ?
वे भावी मानव जीवन वैभव के
दर्पण —जिनमें बिम्बित आत्मा का मुख ।
समदिग जीवन बहिर्मुखी, सामूहिक
ऊर्ध्व संचरण आंतर-गुण का द्योतक
ऊर्ध्व मनुज गुण का समदिग् जीवन में
अभिव्यक्ति पाना,—व्यापक दिङ् मूर्तित ।

कभी प्राण जग, छू अंत शिखरों को
हो उठते शत सुरधनु आभा दीपित,
मात्र उस कल्पना सम्पद् कवि मन की
हृदय नहीं अब अस्वीकृत कर पाता ।
तब मैं युग की वास्तवता में मन के
ऊर्ध्व-गमन के कारण खोजा करता,—
निश्चय, मानव-जीवन क्षर भौतिकता
यान्त्रिकता के पाटों से अब मर्दित ।

भौतिकता की नीव डाल दिग विस्तत
सस्कृति का प्रासाद उठाना जन को
स्वग विचुवी ।—जहा मनुज की आत्मा
निभय, मुक्त निवास कर सके सुख से ।
ऐसा न हो कि भौतिकता की रज मे
मनुज हृदय दवकर पत्थर बन जाए,—
मानवीय भव-सत्य निखिल नि सशय,
सभी ज्ञान-विज्ञान मनुज श्रेयस् हित
अथक खोज मे रत, निष्ठा-आस्था-युत
वहिरतर भुवनो मे पैठ गहनतर ।

दोनो ही लोका को सयोजित कर
जन सभव, भू लोक रच सके, जिसमे
शिव से शिवतर, सुदर से सुदरतर
जग जीवन ऐश्वय हो सके कुसुमित ।
मनुज, मत्य से महत् सत्य के प्रति नित
बढकर, सुख दुख, जड चेतन द्वद्वो को
सहज समन्वित कर विकास-क्रम का पथ
निर्विरोध कर सके—सजन-सुख मे लय ।

इसीलिए, सभव, मेरा कवि-अतर
भावी वैभव शिखरा से टकराता।

मैं उसको उपहार भेजता रहा बराबर,—
लिखता रहा—तटस्थ रहा सप्रति निज स्थिति से ।
घर का कलह किसी का नही सहायक होता ।
तुम भावी जग के प्रतिनिधि हो । पढ-लिखकर तुम
भू-विकास ध्वज वाहक होगे । निज कष्टो से
सीख ग्रहण कर, तुम भू प्रति करुणार्द्र हृदय होना ।
वह दिन दिन प्रगति कर रहा है । भविष्य मे
वह निश्चय, जन भू-जीवन अभिभावक होगा ।

प्रेम

अभी प्यार के योग्य नही बन पाई धरती ।
तुम्हे प्यार दू भी तो ऐसी नही मन स्थिति ।
आधे मन का प्यार प्यार कहला सकता क्या ?
भय-सशय से घिरा अभी सित केन्द्र प्रीति का,
श्री सस्कृत हो पाया नही अविकसित नर-उर,—
निन्दा-कुत्सा सौतेले भाई-बहिना-से
स्थायी रहने देते नही प्यार की सपद् ।

सभवत , आर्थिक-बौद्धिक विकास के पर ही
हृदय-कमल की ओर ध्यान जाए मानव का ,—
विकसित हो पाएगा तब स्वर्णिम सहस्रदल,
और हृदय की अमृत वृष्टि मे अवगाहन कर
पावन हो पाएँगे तन मन प्राण—धरा-रज ।

तब सभव, अगो की स्वर्गिक पवित्रता से
आकाक्षा की सौरभ उमडेगी दिङ्मादन,—

प्राणो क ज्योत्स्नातप मे, शोभा-विस्मित नर
प्यार कर सकेगा अरूप मदिर स्त्री-तन को ।
तब रति-चेष्टा भी जीवन पावन पूजन बन
सहज प्रेरणा देगी आध्यात्मिक विकास को ।

मनुज हृदय उन्मुक्त, अभय, सशय-भय विरहित
तन्मय हो पाएगा शोभा की समाधि मे,—
तन मन प्राण बुद्धि आत्मा के ऐक्य मे बँधा ।
सौम्य सृजन-आनद करेगा प्रेरित उर को,
आत्मा का प्रतिनिधि नर अकनुष हो पाएगा,
काम प्रेम बन जाएगा सुदरता अक्षत,
शील-सुभग विचरेगी भू प्रागण मे प्रतिपग !—
यह भविष्य का सत्य—स्वप्न भी कवि के उरका !

अज्ञेय

व्यक्ति अगम अज्ञेय
न इसमें सशय किंचित्,
वह समाधि जीवित
कितने कृत्यो की अविदित !

किन भावो, स्वप्नो,
आकाक्षाओ से अगणित—
स्मृत विस्मृत—
वह होता रहा अजाने
जीवन-पथ पर प्रेरित—

नही जानता कोई उसके
अतर का रहस्य चिर गोपन,
क्या बीती उस पर प्रतिक्षण,
किन घटनाओ से
आदोलित नित रहा
त्रस्त उसका मन !

किसे बताए वह
निज सुख-दुख के सवेदन,
रहा उच्छवसित जिनसे
उसके उर का स्पदन ।
कैसी दुर्निवार अभिलाषा,
दुजय आशा
घार निराशा
करती रही हृदय का निमम मथन—
प्राणो मे भर क्रदन !
सहे मम ने गुह्य प्रीति-व्रण,
तीव्र घणा के दशन,
विजय पराजय
भय सशय का
रण क्षत्र ही रहा
क्षुब्ध भव जीवन ।

हिम-पवत-सा व्यक्ति
गहन उपचेतन सागर मे अतर्हित,
अल्प ऊपरी जीवन ही से
प्रिय जन उसके परिचित ।
वह वभव सपन्न,—
जगत् अब देता उसको आदर,
नही जानता कोई
कसे आढी उसने चादर !
किन्तु व्यथ जिज्ञासा—
गत से महत अनागत निश्चय,
वही सत्य
जैसा भविष्य म नर बनता नि सशय !

आत्मनस्तु कामाय

औद्योगिक जीवन ने
निश्चय ही मानव मन
बहिर्भ्रांत कर दिया ।
चक्र बन जगत् यत्न का
भ्रमित आज नर ।
भूल गया वह—
    मनुज-जगत् का स्रष्टा
    वह ही ।
निखिल सृष्टि के अतरतम
चैतन्य सूत्र से सित सयुक्त,—
विघाता भी
जग के भविष्य का !

देह क्षुधाओ से पीडित वह
जन समाज की सेवा मे रत,
आवश्यकताओ के जग का
भारवाह बन,—
बना अविकसित भू-भागा मे ।

किंतु जहाँ
बाहर की आवश्यकताओं की
पूर्ति हो चुकी—
जो संपन्न देश कहलाते,
वहाँ आतरिक क्षुधा जग रही
तृप्त मनुज मे !
बुद्धि-धूम उठता मन मे,—
वह अनुभव करता
मात्र श्रमिक,
जन भू-सेवक ही नही मनुज ।
वह इससे कही
महान् सत्य है !
अपना स्वामी,
भू जीवन का भी स्वामी ।

वह खोज रहा अब
जग-जीवन का गूढ प्रयोजन,
निज आत्मा का सित रहस्य !

अब मात्र कम रत रहना
उसको इष्ट नही है,
निज जीवन का ध्येय समझना
अभिप्रेत है !
आध्यात्मिक जिज्ञासा उठती
उसके उर म !
रोटी के हित अब न उसे
सघषण करना ।

शास्त्रो, धर्मो की प्रतिध्वनिया
कही दूर गूजा करती
धूमिल अतर मे ।
वे क्या कहते ?—
उसे जानने की अभिलापा
उठती मन मे ।

क्या उन सबका
नये रूप से सयोजन
सभव इस युग मे ?—
जो वासी, पथराए
अत सत्यो के
अनगढ टुकडे है ?

जब तक औद्योगिक यान्त्रिक
जग के निर्मम शोषण से
मुक्त न होगा नर का
बहिर्भ्रांत मन,—

कोई आशा नही,
मूल्य वह आँक सकेगा
अपना या जग के जीवन का ।

आज वाह्य जीवन ही नही
यत्र से शासित,
मानव का अतर्जीवन भी
दमित, नियन्त्रित
जड यत्रा के दुष्प्रभाव से।
चिन्तन मनन,

हृदय सवेदन,
भाव, स्वप्न, अभिरुचि भी जन की
ढलती जाती
बहिर्मूत यान्त्रिक ढाँचे मे !—
कवि का काव्योन्मेष,
कला का छायाकन भी !

अत उसे अब
क्षीण (सूक्ष्म)
आत्मा के स्वर को
सुनने और समझने के हित
निज अतर से सभाषण कर,
तन्मय होना
उस विराट् औद्भौम सत्य मे,
जो उसकी
अतर्मुख हृत्तत्री मे झकृत !

वही विश्व सस्कृति का
नव आधार बनेगा !—
अतिक्रम कर
जड यत्र-सभ्यता सघर्षण, नर
आत्म मुक्ति के
सौम्य सृजन आनद मे निरत
बाह्य जगत्
अत शोभा मे ढाल सकेगा !—
देह सत्य-मूषक पर
आरोही गणपति-सा !
आत्मान वा अरे मैत्रेयि

हृदय सत्य

अनघ-हृदय मदिर होगा भावी मानव का,
उसे हृदय ही के प्रकाश मे होना केद्रित,
वही प्रेम-देवालय, अतिक्रम तर्क जाल कर
मानवता की प्रतिभा उर मे करनी स्थापित ।

ईश्वर भावी अभिव्यक्ति पाएगा उसमे,
निखिल देव, भव विधि विधान होगे उर मे लय,
बहिरतर की श्री-सुषमा, आनद ज्योति से
मडित होगे प्रभु, अरूप से वन स्वरूपमय ।

भाव-भूमि से भावातीत रह शिखरो तक
होगा ईश्वर का प्रसार चेतना गगन मे,
हृदय कमल पर प्रीति चरण धर, प्राणशक्ति का
रूपातर कर, विकसित होगा जीवन मन मे ।

राग द्वेष, भय सशय, इद्रिय-तृष्णा का तम,
विषय-धूम अत किरणो से होगे दीपित,
निखिल विरोधो से विमुक्त जीवन विकास-क्रम
शिव से शिवतर पथ पर होगा, स्वत सतुलित ।

आत्म-ऐक्य जब विश्व ऐक्य मे होगा परिणत
सृजन शाति तब विचर सकेगी भू पर जीवित,
हृदय केंद्र ही मे स्थित होकर मनुज चेतना
बौद्धिक-भेदो को कर पाएगी सयोजित ।

अति यान्त्रिकता से भू-नर की आत्मा मर्दित,
हृदय-सत्य का अब अनिवार्य गहन आराधन,
बहिर्भूत मानव मन जिससे हो अतमुख,
आत्म नियत्रित हो जन-भू-जीवन सघर्षण ।

जागा वृत्र

नत मस्तक मैं पश्चिम की प्रतिभा के सम्मुख !—
थाह रहस्य निगूढ प्राकृतिक जग के जिसने
क्रूर गाठ दी खोल अचेतन भूत-तत्त्व की !—
हृदय ग्रन्थि खोली थी जसे कभी पुरातन
भारत के द्रष्टा ऋषियो ने, ये पश्चिम के
वैज्ञानिक भी महामहिम सप्तर्षि-लोक के
ज्योतिमय नक्षत्र पुज हैं ! अव्यारयेय
वाहरी विश्व का विश्लेपण कर सूक्ष्म, जि होने
दृष्टि-अध जड का आनन कर दीप्त, अगुठित,
उद्घाटित कर दिए भेद पार्थिव विघान के ।
अणु विभक्त कर, सौंप मनुज को मूल शक्ति दी,
जिससे कल्पित, कूट-सघटित स्थूल वस्तु-जग !—
शुद्ध शक्ति ही जड पदाथ,—यह निर्विवाद अव !

भूत-दैत्य की जाड्य शृखला छिन्न हुई, लो,—
जागा वृत्र, सपख पुन पवताकार जड ।
आज मनुज को अणु-दानव की शक्ति से महत्

मनुष्यत्व की शक्ति चाहिए—जीवन-यापन
मन में स्व जो मन-स्व था, नू रण्ता म
नहीं निमाजित रण कर सकें, पर मनन हित !—
भौतिक आध्यात्मिक सत्ता को समाहित कर !

भविष्योन्मुख

मुझे प्यार का छिलका भर देकर, कहती तुम
इतने से संतोष करूँ मैं।—मुझको स्वीकृत।
डरता मैं भी, कही मुझे शोभा छाया मे
लिपटा कर तुम, छीन नही ला मुझको मेरी
प्राणो की कल्पना-सखी मे,—जिसके साथ
बिताए मैंने जीवन-यौवन, जिसमे मूर्तित
भावी स्त्री,—जो करती वास हृदय मे मेरे।—
स्नेह प्राण, अपलक देखा करती मानव मुख,
खेला करती मन मे, तन्मय निश्छल शिशु-सी,
भुला देह की सुधि-बुधि,—श्री साकार भावना।

तुम सद्भाव मुझे देती हो सहृदयतावश,
आदर करता हूँ मैं उसका।—ध्यान मोड निज,
मुग्ध देखता,—भावी की भावी की भावी
पीढी मेरे मनोदृगा के सम्मुख अद्भुत
शोभा मे अवतरित हो रही मौन अगोचर।

रूपातर हो गया बाह्य जग का हो सहसा,
और समापन अन्न वस्त्र गृह का सघपण ।
बदल गए सबध परिस्थितिया से जन के,
नया विश्व-सगठन जन्म ले चुका कभी का—
शिक्षित, सस्कृत, सौम्य, सभ्य मानवता भू पर
विचरण करती आत्म मुक्त, निर्भीक चित्त अब ।—

भू-प्रागण हो उठा स्वच्छ, सुदर, दिक् कुसुमित,
बदल गया आमूल मनुज जीवन नि सशय,
देवो-से लगते मानव-शिशु शुचि-रुचि दीपित।
कौन कहेगा इन्ह मनुज ही के वशज य।
आँखो को विश्वास न होता, उन्ह चीन्हना
सभव क्या अब? तारापथ ही जन-धरणी पर
स्वय उतर आया हो मनुज मुखो से मडित ।
नव प्रकाश से उन्मेषित-से मनोयत्र अब,
भाव-बोध, चिन्तना, मूल्य, आदश, वृत्तिया
स्वणप्रभ हो उठे चेतना के स्पर्शों से।

जल से अधिक पवन की सतानें लगते जन—
हर्षोत्फुल्ल, विपाद-भार मे मुक्त, युक्त मन,
भाव पख प्रेरित, अतर्मुख, आत्म सतुलित।
एक सूक्ष्म सौन्दय-सुरभि-सी व्याप्त चतुर्दिक् ।
शोणित मे आनद प्रवाहित, हृत्स्पदन मे
झकृत सुर सगीत स्वस्थ,—रस तन्मय मानव
सजन मे निरत।
प्रेम प्रतिष्ठित मनुज-धरा पर,

प्रेम प्रतिष्ठित मनुज-लोक मे—सशय भय से,
तम-भ्रम से उर रहित,—बँधे जन ऐक्य-मुक्ति मे।
देह प्राण मन आत्मा सयोजित समग्र हो
स्वर्गिक पवित्रता का अनुभव करते भू पर।

नव शोणित

यदि अशात उच्छृङ्खल जन-भू का यौवन अब,
इसमे उसका दोष नही है। इसका कारण
उनमे है जो ह्रासोन्मुख गत सस्थाओ के
प्रतिनिधि बनकर, शासन करते नव यौवन पर।
दृष्टि नही जिनमे,—भविष्य का दिशा नही जो
दे सकते। सयोगवशात् शासक बन बठे
मनुज नियति के।

वे जिस अर्थहीन जीवन के
मृत प्रवाह को ढोते आए है, अब उसको
तरुणो पर भी लाद रहे, निज सुख-सुविधा हित।
कौन शासको के अतिरिक्त सुखी भारत मे?

युग युग की जड रूढि-रीतिया से सचालित,
रिक्त विचारो, आदर्शों की धूल चाटते
वे भावी स्वप्नो से अपलक नवयुवको की
दीप्त चमत्कृत आखो म। उनको छलते है
बाह्य प्रदर्शन से सत्ता के। जो भीतर से

कब का है खोखली हो चुकी मनुज-सत्य से ।

नष्ट-भ्रष्ट करनी गत प्रेता की प्रतिमाएँ,—
या फिर उनमे नयी साँस भर, नव आत्मा भर,
मानवीय है उन्हे बनाना,— (जो अति दुष्कर ।)
वे भविष्य के जन मन सिहासन पर फिर से
समासीन हो सके, महत् चैतन्य ज्योति से
नव्य प्रतिष्ठा, नव युग गरिमा प्राप्त कर सकें ।

हृदय-सत्य से, सृजन प्रेरणा से वचित,
गत परपराएँ जीवन-सचालन करने मे
अक्षम अब । वे बालू के कण-सी चुभती हैं
मन की सूक्ष्म शिराओ मे,—उर-शोणित-गति को
भाव-रुद्ध कर, उद्वेलित कर भू-यौवन को !
अत उन्हे दीक्षा ले नव यौवन-पावक से
अपने को अनिवार्य बदलना,—या नव शोणित
छिन्न-भिन्न कर निखिल शृखलाओ को निमम,
मुक्त करेगा जन-भविष्य-पथ । नव गौरव से
मडित मानव नयी दिशा की ओर बढेगा,
भव विकास क्रम का प्रकाश-केतन वाहक बन ।

यह सच है, अधिकाश तरुण अब दिशा भ्रात हो
बहक गए है, राजनीतिको के कर-कदुक
बन कर । भावुक प्रतिक्रियाओ, कुठाओ से
पीडित वे, लक्ष्य-च्युत युग को गति देने के
बदले, जनश्रम अर्जित सपद् नष्ट भ्रष्ट कर,
कुत्सित, ढीठ दृप का अनुभव करते मन मे ।—
अनुशासित करना इनको दृढ वज्र-पाणि बन ।

सृजन प्रक्रिया

पीला पतझर
मन का भाता !
वह अपने ही रीतेपन मे,
सूनेपन मे
मुझे सुहाता !
प्रिय विछोह का यह सूनापन,
स्मृतियो से
भर-भर आता मन !—
पूर्ण समर्पण का पागलपन,
मन ही मन यह
नीरव स्वर मे
मर्मर भर कुछ गाता !
सृजनशील मन का सूनापन,
शून्य, सृजन ही का नि स्वर क्षण,
किन अनाम रगो गधो—
स्पर्शो से
जाने उर भर आता !

अमित प्रीति से भरा शून्य यह,
विद्युत् स्पर्श
हृदय को दु सह,—
सृजन प्रक्रिया का अथाह
जीवन सागर
भीतर लहराता ।
कोपल नही,
प्रीति-भ्रू के व्रण,
छिपा अगोचर
धन्वी चेतन,—
महामरण का उर-मथन कर
चिर अजेय
जीवन इठलाता ।

भरत-नाट्यम्

भरत-नाट्य देखा कल सस्कृति मच पर यहा,
दोनो ही नर्तकियाँ नत्य-कला कुशला थी ।
लगता था, विद्युत् ही जसे रग बिरग
सुभग क्षौम-वसनो की आभा मे परिधानित
नत्य निरत हो,—क्षिप्र अग भगिमा चमत्कृत
मुक्त शव-उल्लास चतुर्दिक् थी बखेरती ।
चद्र-चकित चचल लहरा सा कर-पद चालन
शाभा-मरीचिया की छाया करता वितरित,—
लीन हो गया रस तन्मय उर नाट्य सष्टि मे ।

नत मस्तक हूँ मैं दक्षिण भारत के सम्मुख,
वह महान् है । कलाभिरुचि रखता है अद्भुत ।
अतल जलधि का-सा तारल्य हिलोरे लेता
उसकी प्रिय सगीत मुग्धकर स्वर लहरी मे,—
कपित श्रुति मूर्च्छना हृदय को करती तन्मय ।

मौलिक शुद्ध कला-रुचि उसकी, मध्ययुगीन
प्रभावो से जो निपट अछूती—भारतीय
अपने आध्यात्मिक श्री सौष्ठव मे मडित उज्ज्वल ।

वसे सारा देश अलौकिक कला विभव मे
अति धनाढ्य है । लोकगीत नृत्यो मे भी
वैचित्र्य है विपुल । पर दक्षिण की महत् कलाकृति
जन मन को करती अभिभूत । निसग शक्ति ही
कथाकली के नाट्यमच पर स्वत अवतरित
अतर को भूधर-पग घर करती आदोलित ।

मैं प्रेमी हूँ दक्षिण-भू का · सरल प्रकृति नर
दैनिक रहन-सहन मे भी वे भारतीय है ।
मुझे वडी आशा है उनसे भारतीय
सस्कृति को उनकी देन अतुल होगी भविष्य मे ।—
भारत के जीवन को वे निज कला-प्राण
उर की रुचि, पटु कर-कौशल, श्रम के प्रति निष्ठा से
वहिरतर सपन्न वनाएँगे मगलमय
दृढ जीवन-एका मे वाध निखिल धरणी का ।
गव करेगी जन-भू उन पर मैं अभिनदन
करता दक्षिण भारत के उज्ज्वल भविष्य का—
जो भारत ही का भविष्य होगा नि सशय ।

सत्य दृष्टि

ऐसा नही कि
मैं कीचड को नही जानता,
उसकी सत्ता नही मानता,—
या किल्विष मे नही सना हूँ
मैं विशिष्ट ही व्यक्ति बना हूँ !
ऐसा नही !—

गले गले तक मैं
कीचड-जग मे डूबा हूँ
उससे मन ही मन ऊबा हूँ !

कदम-पलने ही मे
मैंने आँखें खोली,
एक तरह से
हम हमजोली !

कदम आँगन ही मे पला,
उसी मे धीरे सास खीच

मैं ढला ।
इसीलिए पकज कहलाता,
और अटूट हमारा नाता ।

पर, मैंने
निज दृष्टि
ऊर्ध्वमुख रक्खी निश्चय
सूरज का मुख चीन्हा निर्भय ।
जगा, तपा मैं,
बना अनामय ।
अग्नि शिखा मैं,
उठा पक से,
तिमिर अक से—
मा का आँचल
श्री सुषमा गरिमा से भरने
जड-भू को स्वर्गोन्मुख करने
चित् प्रकाश को वरने ।

धरा-स्वर्ग का अग्रदूत मैं,
कर्दम ही का सत्य पूत मैं ।

नही वास्तविकता यह,—
या जीवन यथार्थ यह—
कीचड ही कीचड है
भू-जीवन का प्रागण,
कृमियो से सकुल घन ।

सत्य दृष्टि यह
कीचड को अतिक्रमक रख नुक्षण

नया वृत्त

चिन्मय दपण निराकार निर्गुण तुम निश्चय,
नव युग आनन निज अतर मे करती त्रिम्बित,
जो कि तुम्हारी अमर उपस्थिति मे अभिप्रेरित
दिशा-काल मे होता नव वैभव मे विकसित ।

नया सगुण, नव श्री शाभा आनद विम्ब वन,
जग जीवन मे अभिव्यक्ति पाता अव प्रतिक्षण,
धय प्राज्ञजन, साथक उनका अपिन जीवन,—
जिनके उर मे खुला रश्मि-दीपित वातायन ।

नया सास्कृतिक वृत्त उदित हो रहा शनै अव
सघपण पलो मे लेता जन्म नया नर,
पास आ रहे जन, अतीत-सीमा अतिक्रम कर,
धूल धुध, सशय भय से आच्छादित अवर ।

नये मूल्य को अव मानव-आत्मा की भू पर
नव जीवन-गरिमा मे होना प्राण प्ररोहित,
पूण क्रातिया की यह क्राति मनुज वहिरतर
होता रूपातरित,—प्राण-मन करते घोषित ।

उतर रहो ऊषा-सी तुम,—उर करता अनुभव,
अतमन के अतरिक्ष लगते आलोकित,
बैठा कुडल मार निशा का घनीभूत तम
जड अतीत प्रहरी-सा जग को करने दर्शित ।

सघर्षण अनिवार्य, और सभव, युग-रण भी,
पथराया चैतन्य नष्ट होगा नि सशय,
काले मेघो के पखो मे स्वर्ण रेख भर
मुसकाता घन अधकार मे नव अरुणोदय ।

सपृक्ति

प्रिय विछोह का शून्य
लीलता मुझको अनुक्षण,—
मैं निज तन मन प्राण
उसे कर चुका समपण ।

चीर शून्य-नभ
प्रीति हृदय मे हुई अवतरित,
जिसके रस-स्पर्शो से अब
जीवन सरक्षित ।

श्री शोभा सुख मे असीम
लिपटा तन्मय मन
युग-स्वप्नो के पग धर
भू पर करता विचरण ।

निश्चय,
पुरुप प्रकृति ही से
सपृक्त निरतर,

खोज पुरुप की व्यथ
प्रकृति से उसे विलग कर ।
वह् दपण भर,
प्रकृति अनत विभव छवि मडित,
पुरुप स्थाणु,
जड पतझर वन,
यदि मातृ प्रकृति वभव से वचित ।

ज्ञात पतझर

देह-यष्टि मे
अब रोमाच नहीं ही होता,
मनोलता मे उगते
शोभा-विस्मय अकुर
नित नव सवेदन हित आतुर ।

पहिले मेरा मन भी तन था,
अब तन भी
हो गया दीप्त मन,
उच्च साध्य हित साधन ।

देख रहा मैं स्पष्ट
सत्य मैं ही हूँ,
मृद् तन मोह आवरण,—
घेरे था मन को
इच्छाओं का जड वेष्टन ।

आलोकित मेरे प्रकाश से

अब प्राणों का जीवन,—
मिटा काम-सम्मोहन ।
अब न अनास्था, सशय, भय
कटु राग-द्वेष का कारण ।

पतझर यह,
दुर्धर ऋत पतझर,
घुमड रहे झझा अधड
जन-मन क्षितिजो पर,
कडक रही विद्युत्
कँपता युग अबर थर्थर् ।
अब विनष्ट होने को
जड सभ्यता असशय,
अध-प्राण भू-आवेशो से निदय ।

निखर रहा भूमा प्रागण मे
नव अरुणोदय,
ध्वस्त प्राण-तम,
ध्वस्त सभ्य-भ्रम,
जग जीवन
स्वर्णिम विकास गति क्रम मे निश्चय ।
मेरा तन मन मे,
जीवन मन
युग-आत्मा म तन्मय ।

गीत भ्रमर

भ्रमर, कौन तुम गाते मन म
भर नि स्वर मधु गुजन,
हँस उठते जग रोम,
हप-झङ्कृत होते जीवन-क्षण !

कौन चेतना क्षेत्र ?—
जहाँ तुम चुपके करते विचरण,
किन भावा की पखडिया,
पावक-मरद के मधुकण ?

कौन अनाम सुरभि वह
उर को सहसा ले जाती हर ?
तन मन विस्मृत,
रस-त मय हो उठता प्यासा अतर !

वास वसाए बरवस उर मे—
नष्ट कम फल वधन,—
भाव-बोध पखो मे उड-उड
मुग्ध गूथते गायन !

मध्या के प्रति

प्रिय मध्ये,

यह राजहंस-सा धवल यौवन
शोभा की उड़ान भर अनुक्षण
उन्मद प्राणों की सौरभ से
आकुल कर देता मन!

रति प्रीता तरुणी तुम सुंदर,
कुम्हलाई कलिका-सी लगती
दीप्तिहीन श्लथ अंग!
अभी हाय, स्त्री-पुरुषों की रति
रेंगा-सा करती मंथर गति
जिस भू पर
कीड़े-सी तुच्छ घिनौनी,—
(घुटती पंगु आकांक्षा बौनी!)
वह क्या स्त्री-नर योग्य?
मनुज का भोग्य?

नही,—
ज्यो चद्र ज्वार सागर मे उठना
रस विह्वल आवेग ज्वार
उन्मत्त स्फार—
या गध वनो मे
उमड घुमडता
रज मरद मद अघड,—
छिन्न - मस्तका रति
केवल कामना-नग्न धड !

तुम चाहो
कूदो प्राणो की सिन्धु-अग्नि मे,
भावो की आनद तरग
उच्छल लहरो पर
ऊभ डूब कर जी भर,—
विस्मृति सुख म बह-बह
बाहर निकल
निखर आओ
आकठ स्नान कर !
यही नही सार्थकता
इस मानव जीवन की,—
पूर्णता भर लघु क्षण की ।
प्राणो ही की शक्ति
ऊर्ध्वमुख बोधि ज्योति बन
आत्मिक स्तर पर शुभ्र प्रीति बन,
श्रद्धा आस्था मे ढलती घन !

तुम सुदरता की प्रतिनिधि हो
अनगढ भू पर,
हृदय सुरभि कर जन मे वितरित
नर को स्वच्छ बनाओ सहचर !—

बने कूप-सुख सागर-विस्तत ।
विचरे भू पथ पर सौन्दय
सहज जन-पावन,
हृदय-गभ मे करो
विश्व - जीवन नव धारण !

पवित्रता

कितनी पवित्र शशि-सूर्य किरण,
    कितने पवित्र फूलों के मुख,
कितना पवित्र वन-पवन स्पर्श,
    मृदु गंध-गात्र छू देता सुख !

प्रात उठते ही ज्योति स्नात
    पावन लगता भू का प्रांगण,
रोमांचित-से लगते तृण-तरु,
    किरणों में चित्-चुंबित रजकण !

पावनता ही भूमा का गुण,
    पावनता भू-जीवन मापन,
पावनता ही को स्वर्ग-नभ
    जीवों का जग करता धारण !

सुंदरता क्या होती सुंदर
    जो होती वह न कहीं पावन ?
सित प्रीति-स्पर्श ही से पवित्र

होते पक्जवत् जड चेतन ।
स्त्री-सी पवित्र लगती जगती,
जी करता इसको अक भरूँ,
नव नव भावो के सुमना से
तरुणी का साज-सिगार करूँ ।

अह, रोम-रोम से पावनता
फूटती,—चित्त ध्यानावस्थित,
तन्मयता की शुचि शय्या पर
मैं अहरह रहता हूँ जागृत ।

स्मित नील मुझे वेष्टित करके
धारण कर लेता मेरा तन,
अनुभूति गुह्य,—मैं वतलाऊँ
किसको ? विश्वास करेंगे जन ?
कृश पवित्रता का शुभ्र सूत्र
बाधे नित तुमसे मेरा मन,
मुझको पवित्र रहना नखशिख,—
आत्मा पवित्रता की दर्पण ।

उद्‌बोधन

जब तक न प्रकृति से जूझोगी
होंगे न प्राण, प्रेयसि, सस्कृत,
चतन्य अग्नि तुम,
ढँके राख
युग-युग से सस्कारो की मृत ।

छँट गया भावना-धूम,
हृदय मे हुआ
स्वयभू सूर्योदय,
आलोक-रेख अब
मन क्षितिज,—
मिट जाएँगे सब भय सशय !
यदि जूझ नही सकती निज से
आस्था का पथ पकडो विस्तृत,
वह जूझेगी मन के तम से
ज्योत्स्ना-सा बरसा भावाऽमृत !

लवा न लगेगा आस्था-पथ
कर सको हृदय-मन जो अर्पित,
अनजान धुनती जाओगी,
आस्था-करतल मे सरक्षित ।

प्राणा का पावक अनिर्वाप्य,
दिग्-धूम किए उर आच्छादित,
युग राधे, मुक्त उत्सग करो,
हो प्रीति-पथ जन हित निर्मित ।

इस काम-गरल को बनना ही
जीवन-विकास हित प्रीति-अमृत,
पशु आरोही अत स्थ जीव
होगा नव मानव मे विकसित ।

दुख सुख, मशय विश्वास शनै
वदना चेतना बनती नव,
कुसुमित होती, बन काम-अग्नि
निधूम-ज्योति चेतस्-वैभव ।

लिपटी न रहो चरणो ही से,
उठ, करो शिखर पर आरोहण,
चैतन्य-अद्रि यह दिग्-विराट्,
क्षितिजो पर मोहित वातायन ।

तुम जागोगी, जागेगा जग,
सोया तुमम गिर मुँह के बल,
विचरो, भावी चैतन्य गिरि,
चरणा पर हो नत भू मगन ।

मानदड

भूमा का विस्फोट हुआ
जब मेर भीतर
काप उठा ब्रह्माट
प्रणत सम्मुख, भय थरथर !

अवगाहा मैंन
रहस्य का सागर-अतर
डूबा डूबा
लीन हुआ मैं,—
तन्मय भी जागरित निरतर !

पट पर पट बहु खुले,
क्षितिज पर क्षितिज अगोचर,
पार किए मैंने उठ ऊपर
सूय - दिगतर !

सुख दुख के जग,
भाव-वाव के स्वर्णिम अवर,—
कम-जगत् के जटिल कुटिल पथ
फते दुस्तर ।

शेप रहा बस शून्य,
रिक्त बस शून्य शून्य भर,
अतरतम मे फूटा तब
गभीर गगन-स्वर
मानव ही रे मानदड
इस निखिल सृष्टि का,—
यही सत्य का चरम बोध,
साफल्य दृष्टि का ।

हार्दिकता

तुम कितनी थी-सुदर,
फूल लता से भी कोमलतर,—
एक वार ही जान गया मैं
तुमको बाहो मे भर !

काम-भोग का युग यह
देह - वासना मथित,
तप्त प्राण-घन-तल्प,
तडपती चपला कपित !

मैं सुदरता प्रेमी,
हार्दिकता का भोगी,
शील, मधुरिमा, शोभा,
सस्कृत रुचि का योगी !

तुम आती,
चादनी स्नेह की-सी छा जाती,
मधुर कल्पना

गौर भावना-सौरभ की
मृदु देह सँजोती !

खुल पडते सब बधन,—
प्राणो के पुलिनो को
तुम असीम सौन्दर्य ज्वार मे
सहज डुबाती !
खुलते दीप्त क्षितिज अतर मे,
स्वप्नो को देही देकर
तुम मूर्त बनाती !
तुम कितनी निश्छल हो,
शैल-प्रकृति-सी निर्मल—
सहज हृदय-गुण ही
नारी शोभा का सबल !

तडिल्लेख शोभा
अपलक रखती हृत लोचन,
बाँध लता ने दिया
अजाने ऊर्ध्व वृक्ष तन !

प्रौढि-दृष्टि
सूची सी आई
कला-कुशल-कर,—
मन के मनके बेध,
पिरो चित्-सूत्र मे सुधर
गूथी स्रक् उसन,—
अनुभूति गहन सचित कर,
मूल्याकन फिर किया
मनुज जीवन का दुष्कर !

धरा जरा ने
स्वर्ण किरीट
बोध के सिर पर,

दीपित कर
अतर्मुख अतर !
दी सपूर्ण दृष्टि जीवन की,
खोल ग्रथिया तार्किक मन की !

देखा मन ने—
जगत नही यह
मदिर भास्वर !
जाग्रत जीव,—
अगोचर ईश्वर
प्रतिक्षण गोचर !

सुधा स्रोत

एक मधुरता बहती अविदित
मेरे भीतर,
वह मादकता नहीं—
तरंगित सुधा सरोवर !
मुझको विस्मृत कर
अपने को रखती जाग्रत,—
मैं अपनापन भूल
उसीका करता स्वागत !

कहाँ छोर इस मुग्ध मधुरिमा का ?
क्या ऊपर ?
या अंतरतम में ?—
कुछ मिलता मुझे न उत्तर !

मुझे छुआ कर
वह ममत्व मन में छा जाती,
उर में निर्झर,
गात्रों में रोमांचित गाती !

मेरे ही तन मे धरती वह
भाव - सूक्ष्म तन,
पा विद्युत् सुख स्पर्श
नाच उठते शोणित कण !

उस श्री सुषमा का
न गिरा कर पाती वर्णन,—
शब्द डूब जाते
आनद उदधि मे नि स्वन !

ऐ अति गोपन,
तन्मय साक्षात्कार,
मूर्त क्षण !
भू जीवन को
सतत बनाओ
पावन, चेतन !

रूप रग सौरभ मरद
होते परिवर्तित,
शुद्ध बुद्ध चतय पद्म
रहता अत स्थित !

नर,
मधु गध मरद सार चुन
छत्र बनाओ,
विश्व-सभ्यता स्थापित कर
जन-मगल गाओ !
पाद पीठ सभ्यता
धर चिद्-ज्योति के चरण
उस पर मानव सस्कृति,—
कर धरा पर विचरण !

गढे विशद प्रासाद
सभ्यता का दिग् चुबित,
बदल रहा इतिहास
काल करतल पर अकित !

सस्कृति के रस मूल
सत्य मे नित्य, अगोचर,
मात चेतना की क्या वह
अक्षय, भास्वर !

संवेदना

हो उठता अज्ञात स्पर्श से
रस मानस आनंद तरंगित,
बाँध दिया तुमने प्राणों को
प्रीति-डोर में, प्रिये, अपरिमित !
मिट्टी की सौंधी सुगंध में
मौन मिल गई स्वर्गिक सौरभ,
धरती के रोएँ रोएँ में
झाँक रहा छाया अम्प नभ !

रज तन को तुमने आत्मा में
अधिक दिया अगाध नव-गौरव,
ईश्वर को पूर्णता दे रही
तुम रच रच अभिनव मानव !

अभिव्यक्त वाणी में कैसे
करूँ भाव,—जो स्वप्न-अगोचर,
मूक जिन्हें जीवन में पाता,
जो अब तक स्पर्शों के गह्वर !

होना ही जानना,—सत्य यह,
धरा स्वर्ग मिल रहे परस्पर,
कला मूक, कंगाल शब्द,—
हा अघटनीय घटने को नि स्वर !

असह्नीय गुरु भार
वक्ष को वेध रहा
मेरे क्षण अनुक्षण,
विश्व-चेतना का करती
नव मनुज अहता
फिर युग मथन !
मनुज प्रकृति ईश्वर मे,
ईश्वर का कर
मनुज प्रकृति मे स्थापित
प्रकृति-यानि मे
सत्य-भ्रूण का
नव सस्कृति मे
होना विकसित !

ऊर्ध्व वोध को
अतरतम मे पठ
उतरना अब जन-भू पर,
उतर रही चिति,
उतर रहा मन,—
चद्र पुलक प्राणो का सागर !

हा उठता आनद स्पर्श से
रस मानस नव छद तरगित,
बाध दिया तुमने प्राणो को
प्रीति डोर मे, प्रिये, अपरिमित !

जरा

जरा डराती मुझे !
उसे मैं पास बिठाकर
दुलरा करता जी भर !

वह काँसों के केश उगाकर
सम्मुख आती,
शरद रेशमी मेघों में तब
खो जाता मेरा मन !
स्मृतियों के शत इंद्रधनुष
रँगते वय के क्षण !

वह नीरद मुसकाती,—
दृष्टि क्षीण,
कटि झुकी धनुष-सी,
निपट झुर्रियों की
दुहरी झालर बन जाती !

बाँह थाम,
मैं उसे बिठाता,
तन मन सहलाता,
समझाता—
तन मे रह तुम
तन से हार गइ तो क्या
अब मन से भी हारोगी ?
अत स्थित होकर क्या
मन को नही उबारोगी ?
क्या रज तन का यौवन ?
चल विद्युत पावक कण,—
प्राणो की क्षण गजन !
मानव मन का धनी,
अमर उसकी आत्मा का यौवन !
उसमे केंद्रित,
उसमे निज चिद् वास बसाओ,
मन को फिर से तरुण बनाओ !
मन ही सच्ची देह,
वही चिति गेह,—
देह की भीति भगाओ !

मन का नव तारुण्य
देह मे होगा विकसित,
तन का पतझर होगा कुसुमित,—
अगा मे चित् शोणित झकत !
साथ तुम्हारा देंगे अवयव,
जाना निश्चित !

स्रोत चेतना, चित्त सरोवर,
रुद्ध न हो चित्-स्रोत सूक्ष्मतर—
देह पुलिन नित जिससे उवर ।

किया जरा-मन ने
फिर यौवन मे प्रवेश नव,
हुआ हृदय को गोपन अनुभव,—

जरा देह की सीमा भर,
मन ऊपर उठकर
बँध सकता
असीम स्वर-सगति मे—
वय-दुस्तर ।

इद्रिया

मेरी प्रिय इद्रियो,
तुम्हे मैं अपना कहता,
और व्यथ के मद मे बहता !

विश्व-प्रकृति की सेवक तुम
जा मातृ चेतना !—
उसके ध्येया के प्रति सच्ची,
सतत समर्पित,
उससे ही अनुशासित !

सहती मा चिर प्रसव वेदना
नव भ्रूणा मे,
जीव योनियो म
तुमको असख्य रूपो मे
कर नव निर्मित !

दुरुपयोग करता हूँ मैं
पर, नित्य तुम्हारा,

क्रीत दास निज तुम्हे मान कर,—
सरकारी अफसर का
चपरासी बेचारा
पीसा जाता ज्यो
घर की चक्की मे अक्सर ।

अत्याचार कहा तक तुम सह सकती,
दुराचार मे सनी
रात दिन थकनी ।
खो अपनी नमनीयता सकल,
क्लाति से विकल,
पाप म फिसल,
ध्येय मे विफल,—
आखें होती अधी,
श्रवण-पटह स्वर-वहरे,
बिंधते घाव हृदय मे गहरे,—

धनु-सी टेढी रीढ,
पक्ष-पीडित जजर अँग,
लूने-लँगडे हाथ-पाँव,
ढीले सब रँग-ढँग ।

विश्व प्रकृति का गूढ प्रयोजन
होता निष्फल,
हाड-मास का लोथ निवल
गिनता अतिम पल !

दिव्य इद्रियो,
विश्व प्रकृति की
स्वर-सगति मे बँधी निरतर,
तुम क्षर अनुचर नही
मनुज की जीवन-सहचर !

मनुज चेतना
अभिव्यक्ति पाती तुममे नित,
सहज सौम्य सहयोग प्राप्त कर
होती विकसित !
तुम्ही करण, उपकरण,
चेतना-सौध सतत
अवलबित जिस पर !—

यदि ईंटें खो दें अनुशासन
क्या न भवन की भित्ति,
शिखर, छत
टूट, धराशायी सब
हो जाएगे तत्क्षण ?

इसीलिए,
चाहिए मनुज को
युक्ताहार विहार करे,—
विश्राम दे तुम्हे,
श्रम विराम का स्वर्ण सतुलन
जीवन - ताप हरे !

गुह्याकर्षण

खीच जगत् लेता मेरा मन ।
रूप रग गधो के प्रिय क्षण
अपलक रखते मन के लोचन ।—
उर मे भर अनन सवेदन ।

मैं क्या दे सकता हूँ जग को ?
उससे ही चिर उपकृत
मेरा अर्पित जीवन ।—
मोहे लेता जग मेरा मन ।

यह विराट् ब्रह्माड
भरा रे प्रेम से अमित,
जो असीम सौदय सृजन कर
रखता विस्मित ।

सुदरता को बना
अमित सुदरतर,
छूता वह प्राणो को, मन को,
सूक्ष्म मौन बरसा सम्मोहन ।

सीता हो तुम
राधा के उर म स्थित
ओ जीवन कल्याणी,
शक्ति अनिर्वचनीय,
मुग्ध, श्रद्धाजलि देती वाणी ।

शुभ्र श्वेत अनुभूति—
चद्र किरणो मे घन सा
मज्जित रूप
अरूप शील रुचि सस्कृत
स्त्रीत्व मधुर प्रकाश मे,
सहज सुहाता
रसाकाश म ।

देह-बोध आभास
नही छूता क्षण मन को,
शोभाओ की श्री-शोभा
सौदर्य-सार तुम—
सौम्य उपस्थिति से
सार्थक करती जीवन को ।

जीवित करुणा
अत सुषमा मे-सी मूर्तित,
प्रीति-सुधा भू पथ पर इच्छित
करती वितरित,—
लाज उषा शोभा मे गुठित ।

प्रलय-सृजन

नव वसंत से अधिक
ध्यान आकर्षित करता पतझर,
उससे नव सौंदर्य निखरता
नयी चेतना के स्वर ।

नाच नाच उठता मेरा मन
उड़ते पत्तों के संग,
ताली देते तरुदल-करतल,
थिरक थिरक उठते अंग ।

महानाश संगीत मुखर हो
झंकृत करता अंतर,
सौ मदिराओं की मादकता
लिये ध्वंस निज भीतर ।

भीम भयकरता
सर्पों-सी नाच रही
उद्धत फन,
मत्त प्रलय-शोभा को करता
मन निर्भय आलिंगन !

महामुक्ति का अनुभव होता
उर को अब अनजाने,
महाध्वस के गाऊँगा
आनद-उग्र मैं गाने !

कैसे सभव सृजन
विना इस मुक्ति बाध से प्रेरित,
परम शून्य ही से निश्चय
भव जीवन धारा नि सृत !

नगा मृत्यु को अक
धष्ट पागल मन करता नर्तन,
उठती गिरती शक्ति-भृकुटि
द्रुत होते विश्व विवर्तन !

निखिल नग्न तन,
निखिल नग्न मन,
जग भी निखिल दिगबर—
लाज नग्न
नव जीवन शोभा को
निज बाहो मे भर—

उडना भाव
    शत सुरधनु-छाया मंडित,
प्रलय-अप्सरा को कर
    नव चैतन्य-बीज से गर्भित ।

प्रलय सृजन, पतझर वसंत
    मेरे ही युग पद निश्चित
दोनो ही के गति-विनिमय से
    भव विकास क्रम मर्जित ।

अनुभूति

विजली-सा तडपा करता
    जो पावक-यौवन
मेरे प्राणों के मेघों में
    व्याकुल प्रतिक्षण—

दीप्त कर दिया तुमने उसको
सौम्य ज्योति,
आनद प्रीति, सौंदय - शिखा मे—
    अमृत स्पर्श से पावन ।

साधारण बौने गिरियों की
    तुलना मे ज्यों
हिम शिखरो की
  आभिजात्य दिग गरिमा
    करती दृष्टि चमत्कृत,
    रवि शशि-रश्मि किरीटित,—

वैसे ही चतन्य लोक
उठ भू-मन से
अतर निभय
करता तमय विचरण ।—

सृजन भूमि वह,
रग गध मधु
नव कलि कुसुमा मे कर वितरण,
अधरो पर मँडरा
मैं चापा करना चुबन,
भर मृदु गुजन ।

कितने कुसुमाकर वखेरता
भू-आगन मे—
शुभ्र शरद्
षड्ऋतुआ सँग कर नतन !

यह अतर अनुभूति मत्य—
वैसे ही जैसे
मुग्ध युवक नव युवती को
वाहा मे वाघे
हो अनन्य तन्मय
रस क्रीडा सुख मे मादन ।

मैं चैतय-प्रकाश मग्न
सौंदय * मग्न
आनद लोक मे
राग द्वेष वाष्पा से विरहित

आरोहण करता
पग पग पर विस्मित,—
भावी जन मगल हित ।

वतमान जन भू विकास गति क्रम मे
निज वैज्ञानिक भ्रम मे
मनुज सभ्यता
उतर प्राणिशास्त्रीय भूमि पर
जीवन करती यापन ।

फूल न सुदर
गध-योनि रज करती धारण ।
विहग मिथुन
प्रजनन प्रेरित ही करते गायन ?

सुदरता, आनद प्रम
हार्दिक गुण भास्वर,—
विश्व चेतना के वर ।
युग्माकपण गौण,
मुग्यत मानव स्तर पर ।

हृदय कमल म स्थित हो नर को
सस्कत बनना निश्चय —
सौम्य प्रबुद्ध अनामय ।
यही प्रकति का ध्यय असशय ।

भाव-क्रांति

कितने सुदर लोग धरा पर
उर हो उठता अर्पित,—
अह, अत सतुलन नही अब
जग जीवन मे निश्चित !
कभी सोचता कारण जब
मन हो उठता उद्वेलित,
क्रूर परिस्थिति पाटो मे अब
जन-भू जीवन मर्दित !

राग द्वेप के मेघ घुमडते,
रोप गरजता प्रतिक्षण,
क्षुब्ध-सिंधु-सा आदोलित
श्रेयस् कामी भू-यौवन ।
अल्प सख्य सपन्न
अकिंचन मनुष्यत्व मे निश्चित,
जीवन की सकीण दृष्टि को
होना दिग्-भू विस्तृत !

भव सपद् का हो फिर से
    जन मगल हित नव वितरण,
धिक् उनको, जो लोक-दाय पर
    वरवस करते शासन !

नया मनुज चाहिए आज,
    जन-भू को नव सयोजन,
ध्वम भ्रश कर खव मूल्य सव
    भाव-नाति हो नूतन !

छिन भिन हा जाति वग,
    धर्मों के जजर बधन,
नव स्त्री-पुरपा का समाज हो
    मनुज हृदय का दपण !

रूपातरिता

बडी कठिनता मे पा सका
तुम्हे जीवन मे
प्राण, तुम्हारे लिए रहा
व्याकुल प्रतिक्षण मैं ।

ओ शोभा प्रतिमे,
यौवन ज्वाला मे वेष्टित,
सुलभ कभी हो सका न इच्छित,—
रहा देखता विस्मय-हत
अपलक, मोहित तन,
साहस नहीं हुआ
छू सकू तुम्हारा प्रिय धन ।

जान न पाई तुम भी
भाव-प्रवण कवि का मन,—
बाधक दोनो ओर रहे
सामाजिक बधन ।

अब मैं देख रहा
अपने से ऊपर उठकर—
तुम्हें कल्पना - अंत पुर में
ले जा नि स्वर,—
प्राणों के दर्पण में पाया
मैंने बिम्बित
तुम्हें वास्तविकता से कहीं
अधिक सुंदर, अतिरंजित ।

छिलके को मैं पा भी जाता
तो क्या उसको अपना पाता ?
कब तक रहता वह
कच्चे धागे का नाता !

कही रोकता रहा मुझे कोई
तब अंतमन से—
अधिक प्रबुद्ध कामना क्षण से ।
छाया हाथ न लगी,
पकड कर उसको तब मैं
क्या पाता, क्या खोता !
अंगुलियाँ जल जातीं यदि
दुग्ध मुझ न होता !

आज न जाने कहाँ सो गया
भ्रू चपला का नर्तन,
उमड घुमड कर, गरज लरज कर
शांत हो गए प्राणों के घन !

खुली दिशाएँ मन मे विस्तृत,
शारदीय चेतना सदृश
तुम खडी सामने
नि स्वर, सस्मित ।

जीवन के सुख दुख से तापित
अश्रु धौत तन-तनिमा छूता मैं
जो मन प्रभा से वेष्टित,—
पा उज्ज्वल चैतन्य - स्पर्श
मन ही मन होता उपकृत ।

प्रीति-मुक्ति मे बाध प्राण
जन-भू - मगल से प्रेरित—
तुमको करता हृदय समर्पित
तुम जो विश्व प्रकृति मे मूर्तित ।

पारमिता

फूलो की आँखें खोल धरा
अपलक देखती तुम्हारा मुख,
स्थिर रह पाता न समीर मत्त
अँटता न स्पर्श का उर मे सुख ।

खोजती अथक नदियाँ वन वन
बज उठती लहरो की पायल,
चलती अदृश्य-सी तुम भू पर
हँस उठते रोमाचित तृणदल ।

कँपता तारो मे भाव-मुग्ध
नि स्वर अनत का हृत्स्पदन,
आता न समझ मे चद्र-ज्वाल
पागल समुद्र का उद्वेलन ।

अनुभव कर गुह्य उपस्थिति का
अतर सहसा होता तन्मय,
आकर्षण तुम क्षर जीवन की
जिसको न काल का भय सशय !

मन कभी देखता जब पीछे
लगता, जैसे बीता हो क्षण,
भावी, नव सभावना लिए,
खोलती अगोचर मुख गुठन !

शतियो के भर-भर कलश
काल तुमको करता रहता अर्पित,
तुमसे वियुक्त जो काल ग्रास,
तुममे रत मत्यु परे जीवित !

तुम रूपा की हो सूक्ष्म रूप,
भावो की भाव हृदय-गोचर,
ओ पारमिते, तुममे अक्षत
निज मूल-योनि मे सचराचर !

विद्रोही यौवन

मचल रहा भू-यौवन !
मचल रहे नव तरुण,
मचलती तरुणी, कुठित जीवन !

कौन बोध वह,
कौन भाव ?
जिसका न ग्रहण कर पाता
अब प्रवयस मन !

जन धरणी की ज्वाला
जा टागो जघना से उठकर
पठ उदर मे - सुलग रही
छा जन-अतर मे दुस्तर !

प्राणा की यह हाला
करती यौवन को मद विस्मत !
झूम रहे तन, झूम रहे मन,
घूम रहे दग विस्मय - विस्तत !

ममझ सकेंगी नहीं प्रौढ मति
युग मन का उद्वेलन,
हाला डोला, ज्वाला गिरि पर
कौन करेगा शमन !

उग्र क्राति चाहिए आज
जीवन का हो रूपातर,
यौवन-स्वप्नो से हो मुकुलित
मन का मुक्त दिगतर !

अजगर-सा रेंगता काल श्लथ
गिर विघटन घाटी मे—
रुका सुलगने को पतझर
मधु ज्वाल शैल-पाटी मे !

रूढि रीतियों मे पथराया
बदी जन-भू जीवन —
धरा धैर्य का बाध टूटता
आज का युग-प्लावन !

कारा, गत विधान जड कारा,
विद्रोही भू-यौवन,
तडक रही अब लौह श्रृखला
निकट मुक्ति का शुभ क्षण

प्राण-सुरा पी विश्व चेतना
सृजन नृत्य लय मे रत
पावक-पखडियो,
हालाहल मधु का करती स्वागत !

अतरमयी

काम स्पर्श अव वरसाता
सित सजन-हप का वैभव,
नये रूप मे सुदरता का
होता उर को अनुभव ।

अब न सुमन पखडिया
विहगा के पखा मे उडकर
रम पुलकित करती वह मन को
रग गध कलरव भर ।

अब सुदरता निकट हृदय के—
निबिड स्पश सुख बन कर
तन्मय करती भाव-बोध को
अभिनव स्वर-सगति भर ।

मधुर मनोमय देही बन वह
धरती रूप मनोहर,
प्राणा मे जग स्वप्न-सष्टि सी,
दष्टि सिद्धि-सी सुदर ।

वीणा मेरा हृदय—उसे वह
सँजो ममस्पृट् स्वर मे
वरमाती सगीत - मूत
मौदय अमर अतर मे ।

एक अनिवचनीय
पूणता की अनुभूति अगोचर
रोम रोम मे यक्त
जीवन के अभाव लती हर ।

जाने कसी स्वर-सगति मे
बँध जाता तद्गत मन,
ाण स्वय करने लगते
सौदय अलौकिक सजन ।

भावी मानव

भावी मानव किस कहाग ?
जा अपने म शासित
जा न किसी का शासक शापक —
मनुज प्रीति प्रति अर्पित !

भू जीवन निमाण निरत नित
मजन हृप म व्यक्त,
नव जीवन सौदय स्वप्न मे
आँख अपलक विस्मित ।

उद्घाटित कर सके
मनोभुवना का जा रम वभव
भव जीवन-सौदय खुल
उर आँखा मे नित अभिनव !

जीवन पद्धति सरल,
उच्च हा काल प्रबुद्ध प्रयाजन,
भू - जीवन आदश वास्तविक,
भव समाज का हा जन !

स्वच्छ उर मुकुर,
सूक्ष्म बुद्धि हो नही अह - पद - मर्दित,
साधारण नर,
निज महानता मे हो चित्त न गुठित ।

लाक प्रेम साकार,
जगत्-पथ पर रहता हो सविनय,
शील-मूर्ति,—गिरि-सा ऊपर को
चलता हो दृढ निभय ।

जून सभ्यता से
जन-भू-मन बना सके जो सस्कृत,
हो आनद न व्येय—
कम-रत उर मे स्वयमपि सर्जित ।

राग-द्वेष द्वद्वो से ऊपर
स्थित चैतन्य-शिखर पर,
जन-भू-जीवन ही मे विकसित
होता देखे ईश्वर ।

आत्मोन्नति मे लीन,
नही पर विश्व प्रीति से वचित,
जग जीवन शिल्पी हो—
जन मगल से भू-पथ कुसुमित ।

अतर्यौवन

जब तरु वन मे आता पतझर
घर घर पडते पीले पत्ते
स्वर्णिम छत्ते
हिम समीर के बाहु-पाश मे
सिहर सिहर कर ।

धूम धुध से
दृष्टि मद पड जाती
कँपता
नग्न अस्थि-वन-पजर ।
स्नायु-रेख, त्वक् शेष
प्रेत मधुऋतु का भूत, दिगवर ।

यह वृद्धावस्था भी पतझर !
झरत दुवल प्राणो के दल,
रेखाकृति तन रहा न मासल,—
ऊष्मा-रहित श्वास
ठडी चल,

अग दुखाती, आलस मे ढल !—
एक विश्व ही होता जाता
अब दृग-ओझल !

यह जो भी हो,
तन को ही छूता जजर
प्रवयस् का पतझर !
विश्व प्रकृति महदय
भर देती रिक्त पात्र फिर
नवल चेतना म मुकुलित कर
हृदय दिगतर !

जगती नयी कापल क्षण मे,
भाव-बाँच नव उगना मन में,
अपने को अभिव्यक्त चेतना
करती अब अनर्जीवन मे !

रिक्त नहीं हो उठे प्राण मन,
मुक्त प्रहृप बरसता,—
उर घन
नव विद्युत् शाभा-लेखा मे चेतन !
पूर्ण पूणतर होना जाता
मन का जीवन प्रतिक्षण !

मिलें, धूल मे मिले
जीण गत मूल्य, विचार

मव रा ।गगा,—
हरें गीग दा —
गुगा दें रज-गम ग
हृदयागा पर पाया
हुआ प्रतिष्ठित अर
अगर मा अगय पोया, ।—
गाता उर मृ-मगर ।

साध्य

सध जाते जब वीणा के स्वर
स्वन मौन सगीत
फूटने लगता भीतर ।
आकस्मिक भी श्वास-स्पर्श से
बज उठता आनद तरगित
अतर थर् थर् ।

ठीक कहा है,
हृदय-क्षेत्र यदि प्रस्तुत हो तो
बीज स्वय ही पड जाएगा
उसमे आकर ।
बहुत दूर तक स्वत साधना
साध्य, सिद्धि है,—
दोनो ही मे
रस-साधक हित कही न अतर ।

और, बात यह,
साधन साध्य मनुज के वश मे,

सिद्धि भले ही हो केवल
  भगवत् करुणा-वर ।

किंतु सिद्धि क्या काम्य ?
  सिद्धि सुख विस्मृत करके
सतत साध्य हित
  तन्मय रहना ही श्रेयस्कर ।
वैसे—
        सिद्धि साध्य साधन सब
            प्रभु-इच्छा पर निर्भर
        ईश्वर ही को होना अब
            दिङ मूर्त धरा पर ।
        और नही गति,
            भू जीवन निर्माण करे नर,
        अतर का दपण हो बाहर—
        स्वर-सगति म बँधे उभय
                        अविनश्वर ।

अनन्य तन्मया

मा, तुम मेरी
रक्त शिराओ म गाती हो,
सुनता मैं सगीत तुम्हारा
हृत्स्पदन मे,—

नयना मे दिक् आभा,
नासा मे सुगध वन
प्राणो मे आनद छद
नित बरसाती हो।

तुम मुझमे ही रहती,—
अनुभव होता प्रतिक्षण,
तुम्ही इद्रियो की
बहुमुख गति करती धारण।

सचमुच, मैं आवरण,
चेतना तुम रस पावन,
मेरे हृदय-कमल को
सिद्ध बनाए आसन।

स्मरण मुझे, जब मेरा मन
हो उठता तन्मय
मेरा तन भी चिद् घन
तन में हो जाता लय !

निखर देह में आता
विद्युल्लेखा यौवन,
उठ कन्दुक गेंदों-से
चुभते मुग्धा के स्तन !

रोम रोम हो उठते
स्मृति आनद तरंगित,
उर रहता सौंदर्य मुग्ध,
रस ज्वाला वेष्टित !

ज्ञात रहस्य मुझे अब
क्या एकाकी जीवन,—
निज करुणा में मुझे
वर लिया तुमने गोपन !

तभी कभी न हुआ
एकाकीपन का अनुभव,
सदा हो सका साहचर्य सुख
तुमसे संभव !

तृण-सा भार लगा
वर्षों के वय-पवत का,
झेला हँस-हँस कर सँग
कटु सघप जगत् का ।

नही जानता, मा,
तुम कब कैसे आती हो,—
बन जीवन-प्रेरणा
नित्य नव मुसकाती हो ।

जीवन और मन

अनुशासन हीनता ?
  इसे युग-धर्म कहूं क्या ?
शासन करने वाले
  स्वय नही अनुशासित
पथरा गया चरित्र-हीन मन
  भ्रष्ट प्रौढ़ि का,
अक्षम, समझ न पाता
  तरुण अभीप्सा किंचित् ।

जीवन का प्रतिनिधि यौवन,—
    उसको परिवर्तन
आज चाहिए
    रहन सहन, जीवन पद्धति मे,
वह अधीर,
    झंझा-समुद्र-सा अतमथित,
उसे नही विश्वास
    आत्म-श्लथ युग-मन गति मे !

पावक गुण धर्मा जीवन,
शशि का प्रकाश मन,
जन-भू यौवन
ज्वाला-बाहो मे दिग्-वेष्टित !
मन द्रष्टावत्—
जन-भू गति विधि का सयोजक
क्व ? जब जग-जीवन विकास-क्रम प्रति
वह अर्पित ।

और नही, वह केवल
युग युग का मृत सचय,

जीवन को जग
मन को करना पडता जाग्रत्,
दूर हुआ युवको का भ्रम
गत जड मन के प्रति
विद्रोही अब वह,—
भू-जीवन करना स्वागत ।

छिन्न भिन्न करने
धरणी के लौह-पाश सब
मन शिराओ मे
शोणित करने सचारित,
(मन जीवन का चक्षु—
न जीवन से विराट् वह ।)
नये प्रेरणा पावक से
अब जीवन प्रेरित ।

आओ, घाता पर दृढ घात
करें जड मन पर,
मोह-पाश गत अभ्यासो के
हो शत खडित !
अध शक्ति की कारा से
हो मुक्त चेतना,
रूपातर हो जग का,
जीवन मन नव निर्मित !
अग्नि-ज्वार पर चढ कर आता
नव भू-यौवन,
हटो, हटो,—
निष्क्रिय मर्यादा-तट हा मज्जित !
आत्म नग्न हो युग
धारण करता नव पल्लव,
सजन-अश्व-पतझार धूलि से
जन-मुख शोभित !

जीवन-क्षेत्र

पहिले रहना सीखें लोग,
उठे जीवन - स्तर,
पीछे सोच-समझ
या जान सकेंगे निश्चय ।

जन-भू जीवन-क्षेत्र,—
सृजन प्रिय, गुह्य बोधमय,
बुद्धि जानती
भव-स्थितियों से वर निज परिणय ।

क्या विचारणा ?
जन-भू स्थितियों से सभाषण
मनश्चेतना का !
महत्त्व उसका न गहनतर
आत्मा के हित !
—आत्म-बोध ही जीवन-मास्वन,—
प्रेम-ज्योति आत्मा,
जग-जीवन जिस पर निर्भर ।

प्राणों की हँसमुख
    गोरी सरसी में डूबी
उठ पाती मति नहीं,
    भँवर रति-रस का दुस्तर,
आरोहों पर चढ़ अतर के
        देख न पाती
सुरधनु चिद वैभव के
    खुलते स्वर्ग दिगतर ।

अदभुत सुख है
    जग जीवन सागर तरने मे,
लहरो सँग उठ-गिर,
    भँवरो के मुख मे पडकर,
        हिल्लोलो से लड़ने,
            ग्राहो से भिडने मे,
        पौरुष प्रेमी
            मनुज चेतना को किसका डर ?
        विश्व-वारि मथित जब
            अबर-पथ छूने को
        उड़ता उडन खटोले से-सा
            जीवन सागर,
        चद्र ज्वार अरनो पर चढ कर
            देख रहा मन—
        महत् दृश्य यह,
            जन भव का होना रूपातर।

    जन धरणी का आमत्रण यह
            स्वर्ग लोक को

जो उसके ही
जघन-कूप मे-सा अर्तहित,—
बाहर निकले मनुज,
कूप-मडूक रहे मन,—
ठहरा है उसको
जीवन आनद अपरिमित ।

सुदरता का सम्मोहन रच
आँख मिचौनी
खेल रहा वह
भाव वीथिया से आ-जाकर
नव मस्कृति के स्वप्ना से
अपलक जन लाचन
सजन-प्रेम-सुख से
अतमुख भू नारी नर '

इतिहास भूमि

पूवग्रहा से गहन विदीण धरा का अतर,
पडी दरारें जन मानस कदम मे दुस्तर !—
सूख गया चेतना स्रोत,—हम मध्ययुगी नर,
मुड मतो, प्रातो, व्यूहो मे बँटे भयकर !—

घायल लघु उर दुखते ता दुखने दो क्षण भर
मध्य युगा की परत तोडनी अब भू-मन की,
हमे नयी इतिहास-भूमि पर स्थापित करनी
राष्ट्र एकता प्रतिनिधि हो जो युग-जीवन की !

अलम् नही साम्कृतिक ऐक्य—अतर्जीवन-प्रद
बाह्य वास्तविकता हमको करनी मयाजित,
अन प्राण मन के स्तर जन भू के ममृद्ध कर
बहिरतर करना भू-जन चतय मगठित !

राजनीति औ' अथशास्त्र के बिना भले हो
जी लें जन,—राष्ट्रीय ऐक्य के बिना न समव,
वह इन सबसे गहन, महत्तर,—जीवन-प्रतिमा,
अग बाह्य-साधन जिसके, वह साध्य, वहिभर !

जीवन का सिद्धात—एकता मे अनकता,
स्थापित कर एकता विविधता मे चिर वाछित,
(सरक्षित रख जीवन का वचित्र्य)—मनुज न
भू पर की सस्कृति, समाज, सभ्यता प्रतिष्ठित !

राष्ट्र ऐक्य के लिए बाह्य वल भले अपेक्षित,
पर अतबल कही अधिक आवश्यक निश्चय
भाषा ही स्वर्णिम प्रतीक उस अतबल की
सबल चेतना रज्जु—बाधती हृदय असशय !

प्रतिक्रिया क्षण-स्थापित स्वार्थो, द्वेष बुद्धि की,—
जो विरोध के भूमिकप म जन मन स्पदित,
राष्ट्र चेतना लाघेगी भूधर-विरोध सब,
खड-खड युग-धरा पुन होगी एकत्रित !

भाषा के र मूल गहन अतश्चेतन म
भारत का अतश्चेतन भव का अभिभावक,
स्वण राष्ट्र बनना ही उसका,—भेद भाव की
राख हटगी, जो कि ढके आत्मा का पावक !

छाई अब आकाश-बेलि अग्रजी भाषा—
प्राणशक्ति भू-जीवी तरु की जिससे शोषित,
मुड-भक्त अब दग धरा-चेतना पराजित,
देह अन्न मे, मन विदेश की मति से पोषित !

कहा रहा अस्तित्व हमारा ? पराश्र सेवी,
पर-विचार जीवी निज भू-आत्मा से वचित,

पर-धन पोषित, आत्म-तेज-विश्वास-हीन जन
पश्च मोर के लगा, स्वय का कहते शिक्षित ।

तपता, लो, अब अतश्चेतन-सूय प्रखर-कर,
उमड रह उपचेतन सागर मे काले धन,—
जगता नव विद्रोही यौवन धरा वक्ष का,
पोछेंगे लपटा के कर भारत मुख लाछन ।

भूला स्थापित स्वार्थों के कदम-क्रीडा को,
प्रस्तुत रहा रुधिर की नद-नदिया तिरने को
लाघा विघ्नो के पवत, सकट के खदक,
निकट भविष्यत् म भारत के दिन फिरने का ।

ग्रातर-क्राति

वज्रादपि कठोर,
फूलों-सा कोमल अतिशय,
यह मानव का हृदय।--
आज निष्ठुर नि संशय।

क्या कि अनतिक भव-विधान,
खल क्रूर शक्ति मद
रहा न जन-भू-जीवन के प्रति
अब मगलप्रद।

बुद्धि विजित होती जब
अतरतम निमम बन
विश्व प्रगति की रश्मि
स्वय कर लेता धारण।
भू-लुठित होता द्रुत
गत सदसत् का खँडहर,
उमड नया आवेश
बुद्धि मन से अति दुस्तर

वन दावा-सा फैल
ताप जग के लेता हर !

सुख सुविधा मे पले
स्वल्प नर समझ न पाते
क्यो निदय विप्लव-युग
भू जीवन म आते !

भौतिक-भव-आधार
लोकगण हित कर निर्मित
हृदय चेतना होगी
नव जीवन मे विकसित ।

दया क्षमा औ' प्रेम
कर सक भू पर विचरण,
हो समाप्त अस्तित्व जनित
कुत्सित सघपण ।—

भाव क्रांति ही से सभव
नव युग परिवत्तन,
सारथि हृदय, बुद्धि अर्जुन बन
जीते युग-रण ।

सावधान ! सत्ता दुर्योधन
लगा मनुज मुख
पद विलास रत, छीन न ले,
छल मे भू-जन सुख ।

संघर्षण अनिवार्य,
ताड़ने शृंखल दुष्कर,
अग्नि परीक्षा,—रक्त स्नान हित
हों जन तत्पर।

आज अहिंसा
स्थापित स्वार्थों का कर पोषण
हिंसा की पर्याय—
गरल - रस - कंचन - घट बन।

हृदय द्वार जब खुलते
होती शक्ति अवतरित,
मति भय-संशय मल संग
धोती भू-कल्मष नित।

दशमुख रावण—
पर, सहस्रमुख रे जग जीवन
विजय सत्य की
करती जन मंगल संवर्धन।

जीवन ईश्वर

ईश्वर पीछे तुम
क्यो इतने पागल, मन,
जीवन स्तर पर
मुझे चाहिए ईश्वर दर्शन !

लाभ भला क्या
मन के आरोहों पर उड़कर
श्री सुषमा छायाओं पर कर
प्राण निछावर !

खोल बोध के अतरिक्ष
आनद रश्मि स्मित
सूक्ष्म चेतना में लिपटा
अन्तमन दीपित !
आत्मा के स्तर पर
आलोक-उदधि में मज्जित
मन न चाहता
रहूँ भाव-तन्मय, समाधि स्थित !

जग-जीवन से पथक् नही
ईश्वर मेरे हित
मुझे ज्ञात,
जगती मे हाना उसको मूर्तित ।
जग विकास-क्रम मे
ईश्वर-क्षमता स गर्भित,
शुभ्र चेतना-दपण,
जिसमे छवि भर विम्बित ।

सभव तभी समग्र रूप मे
प्रभु के दशन
जब वे तन मन प्राण
हृदय कर जन के धारण—

विश्व रूप मे होंग प्रकट
सजन महिमा मे
श्री शोभा मगल सुख मे,
श्रम की गरिमा म ।

जीवन कर्म

जीवन का प्रतिनिधि हो
मनु सुत मानव,
श्रेय इसी में—
ऐसा मेरा अनुभव।

केवल मन की भर उड़ान
छू बोध के शिखर
किसे लाभ ?—
मदिरा पी स्फीत विचारों की नर—

आत्म-तुष्टि से घिरा
मध्यवर्गीय अहं-रत,
निज विशिष्ट व्यक्तित्व
बनाए रहता संतत।
विचरें भू पर विविध मत
दार्शनिक, विचारक,
कवि, योगी,
आदर्शों के निष्काम प्रचारक—

लाभ हुआ क्या जीवन का ?—
वैसी ही भू स्थिति
बुद्धि उगल चिद् ऊर्ण
न बुनया पाई अथ द्युति ।

श्री अरविंद, रवींद्र—
सभी अतनभचारी,
उन्हें नमन करता सविनय
कवि मन संस्कारी ।

जीवन सम न हो पाया
जन - भू - संयोजित
विविध मनों में दीर्ण
हो सका मन न संगठित ।

व्यक्ति आज संत्रस्त
निगल ले उसे संगठन,
मुक्ति-वाष्प ले छीन न
सामाजिक अनुशासन ।

किंतु व्यक्ति क्या मुक्त ?
विगत चेतना संघटन
शासित करता जन को,
मन उसका ही वाहन ।

वह त्रिशंकु सा
टँगा अंबर में घूम रहा नित,

उसकी मौलिकता ?
    गत पावक की स्फुलिंग मित !

अतर्मूल्य मनुज का
    तब होगा परिवर्तित
नव्य सगठित जीवन स्थितियां
    हो जब विकसित—
नव सस्कृति प्रासाद गढ़ेंगी
    दिग् भू विस्तृत
उपयोगी वैचित्र्य
    जगत् का रख सरक्षित ।

विश्व प्रगति के लिए
    अत हो पूर्ण सगठित
जीवन-क्रम मनुज को निज
    करना निर्धारित !

अंतर्हिम-शिखर

हिम की शाश्वत नीरवता मे
दबे गिरि शिखर
मुखर हो उठे मन म सहसा,—
देख रहा मैं
निखर उठा बोझिल वाष्पा का
धूम्र दिगतर !

सास स्तब्ध, दग निर्निमेप,
क्षण समाधिस्थ-म,
बदल गया द्रुत
भाव द्रवित हो तद्गत अतर !—
लीन कुहासे हुए कहा
जाने सुख दुख के,
स्पश पवित्र
अलौकिक सुदरता का पाकर !

सुदरता,
अकलुप सुदरता के चरणा पर

हृदय,
करो मेरा तन मन सर्वस्व निछावर !
भरी कला की, मनोज्ञता की
दाय अनश्वर,
सुदर ही शिव सत्य रूप धर
हो दिग् भास्वर !

ममर करते तरु
दिगत म आकुल स्वर भर,
गुह्य बोध से तरु-वन अतर
कँपता थर् थर् !—
युवती सध्या
गिरि घाटी टालो मे नि स्वर,
घिरता धीरे धूमिल तमस—
विशाल छत्र-सा
खुलता शिखरो पर जगमग
अपलक तारावर !
प्रतिदिन का यह दृश्य !
चीर कर तम का सागर
स्फटिक तरगो-से
स्वर्गिक शोभा मे स्तभित
हिम किरीट के शिखर
वाष्प पट मे आच्छादित
अब भी करते
मन की आखो को आकर्षित !
वे अतजग मे हो गोपन
रहस्य प्रतिष्ठित !

मानव जा कि विधाता की
    सिरमौर सृष्टि पर
निश्चय, उसका अतजग
    सच्चिदानद क
    श्री शाभा पावक स निर्मित —
अभी अविकसित भू जीवन क
    धूम वाष्प कण
उस लिए रहत घन परिवृत !

अत शिखरा ही की झलक
    मिली हा मन का
स्वग विजयी
हिमगिरि गरिमा स
    दिङ् मडित !—

इसीलिए तन्मय उर
    भूल गया था जग का
अपनी ही अत शाभा म
    हा अत स्थित !

विद्या विनम्रता

मनुज न हो प्रतिबद्ध
    न्यस्त स्वार्थो प्रति किंचित्
विश्व प्रगति के प्रति
    मानव अनर हो अर्पित ।

तभी पूवग्रह हीन
    सवग्राही मानव मन
भू जीवन रचना हित
    बन मवता सत्साधन ।

लोक समस्याओ का
    सम्यक ममाधान कर
मन ममग्र मति
    मत्य ग्रहण कर मवना निभर ।

आज कहाँ सद्विनय,
    कहा वह आत्म समपण ?
भू पर केवल
    निमम स्वार्थो का मघपण ।

शक्ति-अह, बौद्धिक मद
धन-मद से नर दर्पित,
मत्य दृष्टि से ओझल,
अतर अघ मे मथित ।

महत् पवताकार ज्ञान भी
केवल रज-कण,
विनय नही यदि,
बोध दप से यदि कुठिन मन ।

विनय समपण
अक्लुप रखते उर का दपण,
ईश्वर का मुख
निबित मिलता जग मे गापन ।

सृजन कला - सौंदय
जगत से आज बहिष्कृत
सूक्ष्म हृदय ऐश्वय शू य
अब मनुज यन मृत ।

अजेय शक्ति

वाय-रश्मि ही नहीं
    शक्ति भी हो तुम अविजित,
हृदय प्राण मन,
    अंग-अंग हो उठते झंकृत ।
शक्ति-स्पर्श से
    मन सहसा तन से हो बाहर
विश्व रूप में उठता,—
    मैं उसको सहेज कर

किसी नम्र बूंद अंगों में
    ठूम मकुचित
धारण करता सृजन-तड़ित
    अंतर में पुलकित ।

शक्ति स्रोत तुम
    सृष्टि मर्म में मौन प्रवाहित,
निरन्तर रखती जीवन,
    भू मगन सर्वाधिन ।

अतिक्रम कर मन की सीमाएँ
जब तुम आती
नया क्षितिज ही
उर मे उद्घाटित कर जाती ।

लिपट सूक्ष्म सौदय-चादनी मे
जाता मन,
विद्युत्-घन आनद
हृदय मे करता नतन ।

पीले पत्ता म
सदसत् के क्षत पडते नर,
एक नील निरपेक्ष लोक मे
जगता अतर ।

विनय द्रवित
चरणा मे नत हाता उर अर्पित
नये शक्ति पावक से दीपित
होना शाणित ।

लगना, नहीं अमत से
जग का रच मात्र भय
तुम अजेय जीवनी-शक्ति
सदसत जिसम लय ।

मनुज सत्य

घेर लिया सौंदर्य-मेघ ने
उर का अंबर,
बाँध चपल आनंद-तडित्-
बाहों में अंतर ।

वह सहस्र सुरधनु बिखेरता
बोध-रश्मि स्मित,
सुषमा ज्वाला में नहाती
कल्पना चमत्कृत ।

गिरि-यात्रा सी सरल
भावना आत्म समर्पण
करती उस सौंदर्य स्पर्श को
तन्मय निःस्वन ।

मन का अनुभव ये
शोभा-छाया-वीथी भर
भाव प्रवण उर को
ले जाती सुना निरंतर ।

ओ तुम प्राणो के
पागल आनद अनामय,
विलमा रह सकता मै
तुममे नही असमय ।
अग्रदूत म प्रीति वह्नि का,—
रूप हप-कण
झर झर पडत सित स्फुलिग-से
उसमे प्रतिक्षण ।

अमर प्रीति की हृदय ज्योति मे
स्वग सजन कर
निर्मित करने आया मैं
भू जीवन सुदर !

विलम न सकता मैं
श्री शोभा सम्मोहन मे—
अविरत गति में, अविरत गति,—
रस सृजन प्रवण मैं !

मस्तक पर धर
दिव्य कला देवी को सादर
भू मगल हित मै
शिव चरणो पर न्योछावर ।

मनुज सत्य स्थापित कर
मनुज प्रकृति की भू पर
मैं इश्वर का भी
करने आया रूपातर ।

सहज साधना

प्राण, तुम्हारी माला की
ये गुरिया पावन
मुझे सिखाती जीवन मे
गोपन अनुशासन ।

सख्याओ का प्रिय जप
बाँध रहता मन को,
भटक न पाता मन क्रिया रत
जीवन क्षण को ।

ये माला की गुरिया
मन के ही सित मनके,
सख्याओ का जप
लय मे रत छद भजन के ।

ज्यो-ज्यो प्राणो की वीणा के
मधत लय-स्वर
वह तन्मय गायन
जनन मे समा निरन्तर—

व्याप्त विश्व श्रवणो मे
हो उठता श्रुति-मादन,
तडिल्लहर का करती
मन की लहर अतिक्रमण ।

आमन्त्रित करता तुमको
मेरा तद्गत स्वर
रोम सिहर उठते,
स्पदित हा उठता अतर ।—

क्या देखता मनानयनो से
विस्मय कातर—
ओ नि सीम ससीम से पर,
उर-तत्री धर

तुम्ही सँजाती छद
प्रीति का राग छेडकर
तुम्ही विश्व हा मुझमे—
सूक्ष्म, अभिन्न परात्पर !

हृदय बोध

एक दृष्टि में काम
प्रीति ही का रे अनुचर,
जीवन का संताप निखिल
मन से लेता हर।

पड़ा क्रूर मधुप-भँवर में
अब जन-जीवन,
इसीलिए बढ़ रहा
काम-सुख का आराधन।

मुक्ति निराशा का मन की
देता रति-सेवन,
चिता ज्वाला दग्ध प्राण
करते रस मज्जन।
बहिर्भ्रान्त भौतिक युग का
यह अभिशापित वर,
भोगवाद के पीछे पागल
आत्म विजित नर।

मानव जग का श्रेय
    न, पर, इसमें सर्वाधिक,
सम्यक यह, क्षण भाग
    प्रीति युग के हो आश्रित ।

बिना प्रीति के काम,
    नारकी कृत्य असंशय
सूक्ष्म भावना इससे
    विक्षत होती निश्चय ।

हृदय निराशा के दिन
    पाशव-रति अति घातक
मानवता की गरिमा हित भी
    निश्चय पातक ।

आज मनुज मन देह प्राण भर
    हृदय न विकसित,
बुद्धि भ्रांत, मान्यता शून्य,
    रुचि स्थूल, असंस्कृत ।

हृदय-बोध ही से
    इंद्रिय सम्यक् संचालित,
आत्म विमुख नर-बुद्धि,
    हृदय जो रुद्ध, अविकसित ।

प्रीति पाश में बँध
    युवक युवती भू पथ पर

सृष्टि प्रगति, जन मगल हित
वन जीवन-सहचर ।

सुदरता प्रतिनिधि स्त्री,
सुदरता हो आदत,
नारी तन मदिर—
श्री सुपमा प्रतिमा स्थापित ।

काम कूप
वन सजन-प्रेम का सागर विस्तृत
उठे मुक्त आत्मा के नभ म
चद्र ज्वार स्मित ।

स्वग गवाक्ष खुलें अतर म
मनोविभव के,
नव भावोन्मेपो के,
नव जीवन गौरव के ।

काम-भूमि ही की रे
प्रीति शिखर श्रेयोन्नत,
प्रीति-काम नव यौवन का
उर करता स्वागत ।

चार्वाक

दहवाद के सभवत तुम रहे प्रचारक ।—
क्सी थी वह देह ?—नही उसमे परिचित मैं,—
क्या वह रज थी जरा मरण रुज् भय से विरहित ?
प्रिय चार्वाक नही तुम वह कह पाए सभव
कहना था जो तुम्हे,—कभी ऐसा हो जाता ।

कृच्छ्र-साधना, सयम तप, साधन से समधिक
साध्य बन गए थे तब, जड, निषेध विधि पीडित,
रिक्त पारलौकिता ही रह गई ध्येय थी,—
शास्त्रो के आकाश बेलि से शब्द जाल मे
उलझ पडित, मत अमूत तर्कों के लिपट
बोध-ऊण म, तुम्हे चुनौती देते होगे,
और तिलमिला कर तुम उसमे, क्रुद्ध नाग-से,
फुला बुद्धि का उद्धत फन, फूत्कार मार कर
आस्तिक दशन को डँसने मे उलट गए द्रुत ।

क्या प्रत्यक्ष न यह ? मानव पीढी दर पीढी
आता पथ्वी पर—मानव ही उसको लाता ।—

मत्यु-द्वार मे कर प्रवेश रुज् जरा जीण तन
नव यौवन से मडित, नव चेतस् से भूपित,
विचरण करता जग मे फिर—किस लक्ष्य के लिए ?
क्या या ही दुहराती विश्व प्रकृति निज लीला ?
नही,—प्रयोजन निश्चित ही कुछ निहित गूढतम
विधि विधान मे, सृष्टि सरणि मे,—जो केवल अनुमान ही नही।

दीख रहा प्रत्यक्ष,—आदि उस बबर युग से
मनुज शन विकसित सस्कृत हा—और अनेको
वाह्य-विघ्न-बाधा के दुगम शृग लाघ कर
मानस-सकट के बहु सागर तैर धैय मे,
साहस मे,—वसुधा-कुटुब की महत कल्पना
मूर्तित करने को आतुर—बँध विश्व-ऐक्य मे !

देह व्यक्ति की नही, कि ऋण के घृत मे पोषित
वह इद्रिय मदिरा पी-पी कर बन अराजक !
वह केवल सामाजिक-तन की लघु प्रतीक भर ।
व्यक्ति देह नश्वर, पर मानव अविनश्वर है
निज समाज-तन मे,—शाश्वत निज विश्व देह मे ।

उसी अमर देही का, भव विकास गति क्रम मे
ऋण के घृत से भी पालन करना समुचित है,—
यही चाहते थे कहना तुम, सभव, इसमे
जो कि पारलौकिक जन, विमुख जगत जीवन मे,
व्यक्ति मुक्ति के रिक्त जाल मे फँसे हुए थ ।—

इन अर्थों म मैं भी लोकायन हूँ अविदित ।

जला दिया था तुम्ह द्वप हत विपक्षियो ने,
अजर तुम्हारी भस्म जाग नव युग जीवन मे
स्वण अकुरित हागी । मैं भी रूपवाद का
नम्र प्रचारक, सगुण उपासक, जीवन प्रेमी ।

विश्व रत

नव वमत फिर आया ।
मास ताडता लेडी कुत्ता
मोटर मे दब,
राजमाग पर पडा
रक्त मे लथपथ, जजर ।

वसाखी पर चल
वह बुड्ढा भीख मागता
द्वार द्वार पर फिर
डाँट दुत्कार सहता ।

नग घडगा हाटा म
घूमता बेधडक
वह पागल
जो इकलौता मुत
किमी सेठ का ।

पनघट पर
हगामा जल

चिल्लाती औरतें
मुहल्ले की, गाली बक !

कुडकी की घुडकी
देता है करजदार का
अलस्सुबह ही
घुस पठान खँडहर-से घर मे।

अह, रच्ची चूटी टूटी
सिंदूर लुट गया,
नरी जवानी
छिन्न लता सी पडी धूल मे ।

ऐसे कितने दृश्या को
बिसरा कुसुमाकर
मुसकाता क्षितिजा क
खुले झरोखा से आ।

वह उतना ही विवश
कि जितने करुण दृश्य ये,
उसको मुसकाना,
इनको मुरझाना आता।

मात प्रकृति ने सब को
किया प्रयाजन वितरित,
पिक गाता, मधुऋतु खिलती,
पतझर थरता नित।

मुख दुख का सम्मिश्रण जग
यह बहिर्दृष्टि भर,—
व्यक्ति नियति यह
विश्व चेतना से जो वचित ।

यह कठोर हो सत्य,
नाल से छिन्न-मूल हो
कुम्हलाएगा फूल ।—
विश्व वेदना मे तपा
व्यक्ति कभी दयनीय
नही होता,—यह निश्चय ।
किंग लूथर, कैनेडी, गाधी
जीवित उदाहरण ।

व्यक्ति-विश्व

एकत्रित कर पाता यदि
जीवन-सागर मे
व्यक्ति अहताओ की
इन लघु-लघु बूदो को—

यान पार लग सकते
विश्व समस्याओ के,
पुन एक बन जाता
मनुज कुटुब धरा पर—
आदि-मनुज चिद्-घन का
जो बूदो का सीकर !

व्यक्ति बिन्दु की मुक्त महत्ता
मुझको स्वीकृत—
पर जसा प्रचलित,
बूदा से सिन्धु न बनना !

बिन्दु सिन्धु पहिले से
पथक् अनादि सत्य हैं—

विंदु सिन्धु का लय होना भी
नियति सनातन !
और सिंधु की बूंद कहाना भी
गौरवप्रद !—
ओस विंदु की नियति
वाष्प बन उड जाना भर !

वही व्यक्ति रे महत्,
विश्व जीवन निज उर मे
धारण करता जो
सार्थकता भी उसकी ही !—
विश्व जिसे
स्मृति सागर मे
संचित रखता नित !

व्यक्ति विश्व का
यह आदान प्रदान परस्पर
भव विकास गति क्रम को
जीवित रखता सतत,—
एक दूसरे के हित भी
अनिवार्य सत्य ये !

महाह्रास युग का सूचक यह—
व्यक्ति छिटककर
विश्व चेतना से,
निज सुख दुख म हो सीमित,
क्षुद्र अहंता मे रत !—

उसकी सजन कला भी
रिक्त आत्म रति द्योतक,
व्यथ, अमूत, वाष्पवत् ।

चेतन मन से
ऊपर उठने के बदले वह
उपचेतन खोहो मे छिप
कुडली मार कर
पडा हुआ धूमिल
छाया-वाष्पो म लिपटा,
निम्न प्राण - दरियो की
भाव गध पी मादन ।

विश्व विवतन का युग ।
विगत व्यक्ति क्षय होकर,
महत प्रेरणा सृजन चेतना से लेकर
नव मूल्यो मे श्री सयाजित,
बहिरतर विकसित,
चिद विराट स्वर सगति मे बँध
भव मस्कृति की,
आत्म-मुक्त विचरेगा
विश्व-मिलन की भू पर ।

मूर्त करुणा

देखा प्रात मधुर स्वप्न मे—
शोभे,
पावन चरण चूमने को मैं झुका
तुम्हारे कोमल,
मुझे स्मरण अब,
रँगे अलक्तक से थे गौर
तुम्हारे पदतल,—
लिपटी हो ज्यो उषा
लाज मे डूबी उज्ज्वल।

छवि-तन्मय मन
विस्मृत रहा दिना तक,
विस्मित आँखें अपलक।
दृष्टि नही उठ पाई
देखे
रूप-शिखा देही
श्री शोभा मे लहराई,—
रही मौन सकुचाई।

अनदेखे ही देख सका उर
कोटि सूय प्रभ
देही की परछाई !

द्रवित हो उठे
देह प्राण मन
अतर्जीवन,—
अह, विस्मय क्षण !

लगा मुझे,
मैं वहता जाता,
बहता जाता हूँ सरिता-सा !
रोक नही पाता
तन्मयता,—
भाव स्तब्ध थी श्वासा !

लगा मुझे,
मैं फैल रहा हूँ,
फल रहा हूँ
अव अग जग मे,
घर मे, मग मे,
वन मे, नग मे,
दिशि मे, नभ मे,
वन अनत अभिलाषा !

वाष्प वन गया हो अव अतर,
उडता जाता था वह ऊपर
श्री शोभा का वादल वनकर

सुरधनुओ मे लिपटा सुदर !—
सूक्ष्म देह धर ।

ऊपर उठकर, ऊपर उठकर
देखा मैंने
प्राण, तुम्ही हो
सूय चद्र तारा से दीपित
अमित दिगतर ।
भूमा भास्वर,
पूण परात्पर !

अवचनीय अनुभूति !
स्नेहवश तुमने कातर
फूल-देह धर
मृदु वाहो मे
मुझे लिया भर !

अपने मे कर
उर को केंद्रित,
सम्मुख खोल
विश्व पट विस्तृत ।

नाम-मोह

कहाँ हाय, वह शात सौम्य जीवन का सुख अब
दुर्बलता जिसको गिनते आधुनिक सभ्य जन,
दाँव पेंच मे पारगत जो वही सफल नर,
सरल स्वभाव महान् मूर्खता का अब लक्षण ।

आत्म प्रचार,—इसी पर मानव-जीवन निर्भर,
यही ख्याति, लोकप्रियता, सपद् का कारण,
दिग्ध्वनि यत्रो से बन नर राई का पर्वत
पिटा डुगडुगी, गाल बजा करता विज्ञापन ।

नाम मोह से मुक्त,—अब न अविदित महापुरुष,—
अह, अनामता का सौन्दय तिरोहित भू पर,
दिशा-भ्रात, उन्मत्त, दौडता ही जाता नर
स्वप्न बडप्पन का दीखा हो उसे भयकर ।

स्वय मुखर वह, पर न कृतित्व बोलता उसका,
निज दोषो को छिपा—व्यक्त करता वह गोपन,—
उसे न निज अध्ययन, आत्म विश्लेपण ही का
मिलता समय,—अहता का घेरे सम्मोहन ।

उसे काय तत्परता, सजन त मयता या
नियम-निष्ठता मे मिलता आनद न किंचित्,
क्या अमगता का सुख, इससे रच न परिचित,
मात्र नाम का मोह उसे—थोथा, अतिरजित !

विश्व विवतन की स्थिति यह भी वहिर्भ्रात मन
खोज न पाता निज महिमा-गरिमा का उद्गम,—
मानवीय भव-सत्य मनुज को आत्म सतुलन
स्थापित करना जन-भू-स्थितिया का कर अतिक्रम !

भीतर ही रे स्रोत सत्य का, चिदाकाश मे,
बाहर के जीवन मे करना जिसे प्रतिष्ठित,
जड से चालित चेतन—जीवन-हीन यत्र भर,
चेतन ही से सचालित जड होता विकसित !

आश्वासन

डरो न किंचित् ।
जाति, प्रांत, गत संप्रदाय
यदि उठा रहे सिर,
कुछ भी स्थायी नहीं दीखता यदि—
सब अस्थिर,—

गत जन भू जीवन मन को
होना ही विघटित,
राष्ट्र एकता निश्चय
भू पर होगी स्थापित !

उपनिवेश-वासी हम
कब से मुंड विभाजित,
प्रतिक्रिया यह मध्ययुगी
भू मन की कुत्सित !

भारतीय क्या नही,
प्रात-जीवी भर ही जन ?
साध्य भुला कर
कभी सफल हो सक्ते साधन ?

मानवीय एकता
आज अनिवाय असशय,
मानव हृदय पुकार रहा
मानव को निभय !

नया ऐतिहासिक युग
आने को अब निश्चय,
मानव-भू पर होने को
नव युग अरुणोदय !

मान सास्कृतिक ऐक्य
नही पर्याप्त धरा पर,
उसे ऐतिहासिक स्वरुप
देना लोकात्तर !

सामूहिक-स्तर पर
जीवन-सुविधा हो निर्मित,
भौतिक-मदिर मे
आ यात्मिक मूर्ति प्रतिष्ठित !

गंभीर प्रश्न

कौन हाय, बदले भू-आनन ।
शिक्षित नही हमारे जनगण,
आत्म प्रबुद्ध न वे युग चेतन,
समझौता कर लेते वह विधि
कटु जीवन स्थितियों मे प्रतिक्षण ।

युग युग से वे शोषित मर्दित,
निर्मम नियतिवाद मे पीडित—
नही लोक-बल सजग सगठित,
उनके हित जग जीवन अविरत
विगत कर्मफल का सघर्षण ।

उच्च वर्ग के मानव सस्कृत
निज स्थापित स्वार्थों हित शकित,
मुक्त न चित्त, पूर्णत अधिकृत,—
आत्म लाभ के हित यह उनकी
प्रतिबद्धता बडी ही भीषण ।

नेतागण पद-अजन मे रत
पद-गौरव ही उनका भारत,
उह चाहिए केवल जन-मत,
उनकी क्षमता कोरे भाषण—
भू-श्रम करन का असख्य जन ।

कहते, जग ही मे परिवतन
निदय गति से करता विचरण,—
नही देश को भय का कारण,
कष्ट सहन ही उन्नति-साधन—
व्यथ आज उद्वेलित यौवन ।

राजनीति के पडित साधक
सबसे बडे प्रगति के बाधक,—
वे निज निज दल के आराधक,
सभी मात्र पद-मद के लोभी
कौन करे जन कष्ट निवारण ।

बौद्धिक भी गुट के प्रति अर्पित,
बुद्धि अहता-अहि से दशित,
फिर भी उनसे आशा निश्चित—
जीवन मगल हित एकत्रित
सजग सँजाएँ जन-भू प्रागण ।

विद्या से सद्विनय प्राप्त कर
व्रत सकल्प, मुक्त रख अतर,
युग जीवन उद्घोष स्वस्थ भर
भू-जन को दें नया प्रबोधन,
युग द्रष्टा बौद्धिक, लेखकगण ।

सत्य व्यथा

हृदय चाहता
बंशी के स्वर छेड़ूँ मादन,
किन्तु गूंज अहि-सी
उर डसती फैला विष फन ।

चित्त बैठ जाता
सौन्दय क्षितिज छू छू कर,
धरा वेदना से
मथित हो उठता अंतर ।

भाव क्षुब्ध मन
करने लगता जीवन चिन्तन,
गाने को आतुर,
रह जाते स्तब्ध, गृजन क्षण ।

हृदय-राग बँध जाता
मौन व्यथा-अचल मे,

भाव स्रोत

अति चिन्तन से घोट दिया तुमने बोझिल मन,
कलप रही भावना बदिनी-सी विचार मृत,
फेंको मन का बोझ, चहक फिर सके कल्पना,
स्पश ग्रहण कर सृजन चेतना का अत स्मित !

विचर सके अतर्जीवन शोभा के नभ म,
सेक सके स्वर्गिक क्षितिजा का स्वर्णिम-आतप,—
जड विचार चिंतना धूम से घिरी' चेतना
बद्ध परिधि मे घूम-घूम रह जाती कँप कँप !

चितन, तक, विचार, कम—वचन मन के हित,
उनसे उर अभिभूत न हो, सोचो तटस्थ रह,
मुक्त विहग से प्राण उड सकें पख मार सित
धरा स्वग के छोर गूथ गीता म अहरह !

हृदय ऊब जाता,—जब अतर के प्रवाह के
रस स्पर्शों से देह प्राण मन रहते वचित,
बाहर के जग मे खोई, हत काल-भार से,
भटका करती मति, बहिरतर-सगति विरहित !

मध्य हमारे कोई आ न सके, जीवन मे—
तन मन प्राण तुम्हे करता मैं तन्मय अर्पित,
बिना तुम्हारे प्रीति-स्पर्श के कौन वीर जो
अत स्थित रह सके जगत् जीवन से मर्दित !

उमड दृगो मे आते आसू मात्र स्मरण से
अकथनीय सघर्षण भोग चुका हृत अतर,
पर, प्रेयसि, तुम हो—इस सुख दुख मृत्यु क्षेत्र मे,
बोध मात्र ही से मन ने सब कुछ पाया भर !

युग बोध

अह, यह मध्य युगों का ईश्वर !
गिन निषेध पलायन का गव,
अस्थि शेष चित-पजर !

जन भू जीवन के प्रति निमम
उर म पाल पारलौकिक भ्रम
निदय पाप-पुण्य पाटो म
रहा पीसता दुस्तर !

छील निखिल मन प्राणो के स्तर
ऊध्व श्वास चढ शून्य गगन पर
प्रकृत सरित-गति के विरुद्ध
वह तिरता रहा निरतर !

विधि विधान के गढ जड पवत
सिखा अध मत, क्रूर नियम व्रत,
स्वग नरक मे रहा भ्रमाता
नर प्रेतो को दे वर !

भू जीवन शोभा से विरहित,
व्यक्ति मुक्ति ही परम ध्येय नित,
भक्ति अध नर रहा रगडता
मस्तक चरणो पर धर ।

प्राणो के वैभव से वचित
मुझे न स्वीकृत ईश्वर किंचित्,
इद्र मरुतगण से ही रक्षित
जयी हुआ असुरो पर ।

भू जीवन इच्छा से गर्भित
प्रभु की महिमा हो दिग्-विकसित,
जन भू जीवन मे हो मूर्तित,—
जग से पृथक् न ईश्वर !

आओ, देखें भावी का मुख,
उर अतीत प्रति रहे न उन्मुख,—
नव विकास चेतन वाहक बन
खोले नये दिगतर ।

गीतो का स्रोत

गीत गगन से झरते गोपन !
वे न धरा पर चलते अब
प्रतिरोध जहा कटु चलता प्रतिक्षण !

व्यक्ति आत्म रक्षा हित चिंतित,
कला जगत् कुठा से पीडित,
समय कहा, जीवन-शोभा को
मनुज हृदय कर सके समपण !

आवेशो से जन सचालित,
कूटनीति, सशय, भय पालित,
राग द्वेष, स्पर्धा कुत्सा का
रण क्षेत्र अब जन भू प्रागण !

मनुज, हृदय-मूल्यो से वचित,
सुकृत, सभ्यता से पद-मर्दित,
यात्रिक ही बनता जाता,
सदेह नही, अब मानव जीवन !

परिवर्तन चलता युग-भू पर,
सहृदयता संपद् अब दूभर,
श्रद्धा आस्था ऊपर-ऊपर,
जड यथार्थ ही बना जनार्दन !

अब भी बहिर्जगत् कर मज्जित
कही गूढ अतर से प्रेरित
श्री शोभा आनद मधुरिमा
भर देती नव जीवन प्लावन !

नयी चेतना के दिक्-सुदर,
खुल खुल पडते मुक्त दिगतर,
मनोगहन का तिमिर चीर कर
जगता हृत्तत्री मे गायन !

प्राणो की सरिता मे बहकर
नयी भावना की मृद् उर्वर
भू-जीवन को चिद्-वैभव से
अभिषेकित कर देती तत्क्षण !
गीत गगन से झरते गोपन !

सौंदर्य भैरवी

रुंड मुंड स्रग्धर
जीवन-चेतना अनश्वर
सृजन-नृत्य कर रही
काल शव पर
भव-पग धर !

अट्टहास करती वह,
कंपित दैन्य अमंगल,
मृत्यु तमस आलोकित
विद्युत् स्मिति से उज्ज्वल !

वह त्रिलोचना,—
भूत भविष्यत् वर्तमान तर
अभिव्यक्ति देती निज मे
अभिनव को सुंदर !

कला - शेखरा,
झरती ऋत संबोधि सुधा
भू मन मे,

सित कपाल पात्री,
भरती नव रक्त
जगत् जीवन मे !

अपने मे लय, आत्म लीन,
आनद चेतना अतिशय,
ज्योति रूपिणी,
पृथु ऐश्वय स्तनी,
स्नेहिनी, अनामय !

चिर अनत यौवना,
कामदा,
जग-जीवन-कल्याणी,
प्रणत नमन,
सौदय-भैरवी,
भाव-तन्मया वाणी !

पतझर गाता

पतझर आता
तरुवन मर्मर गाता,
झर झर पडते जर्जर पत्ते
ताने नभ मे छाता !

विघटित होता जीर्ण मनोजग,
मद्यप सी जन की मति डगमग,
ठोकर खाते बौद्धिक पग-पग,
मर्यादा से छूटा नाता !
पतझर आता
भव - वन चर्‌मर्‌ गाता !

कौन बजाता डमरु गगन मे,
परिवर्तन की भेरी रण मे ?
होती ध्वस्त सभ्यता क्षण मे,
सिर पर भय-सकट मँडराता !
पतझर आता
अधड हर हर गाता !

नग्न सुहाता विश्व दिगवर,
ताम्र धूलि से रजित अवर,
प्रलय-नृत्य-रत अघ ववडर,
ताता थेई ताता !

अये, विलो से वाहर आओ,
लघु स्वार्थो मे मत पथराओ,
मानवता की ध्वजा उडाओ,
अणु-दानव रण-श्रृग वजाता !
पतझर आता,
नव युग स्वर मे गाता !

मैंने जग को किया अनावृत
वह वहुशाखा-पजर निश्चित,
उसको वहिरतर सयोजित
वनना जन-भू स्वग विधाता !
पतझर गाता !

बाह्य क्षितिज

विश्व क्षितिज पर घिरते अग्र घन !
भूधर हा उड़ते अंबर मे
पख प्रलय के खोले भीषण !
मेना भी बढती सज धज कर,
भू-रज से मुह ढापे अग्रर,—
कुछ अनहोनी होने को क्या ?
सुनता मैं भू-उर की धडकन !

लपक रही विद्युत् असि क्षण-क्षण,
रुद्र वलाहक भरते गजन,
हालाडोला-सा दिक्-कपित
जन धरणी पर करता विचरण !

पथरा गया विगत जन भू मन,
उसको होना फिर नव चेतन,
शाति, धैय, सद्‌भाव, स्थय से
तिर सकता नर युग सकट क्षण !

वाह्य प्रकृति से हो उद्दीपित
बुद्धि भ्राति से जन मन पीडित,
नव समत्व सतुलन चाहिए
जा जन-भू-भय करे निवारण ।

वदल गई भू स्थितियाँ बाहर,
वदल सका पर मनुज न भीतर,
आवश्यक अब जन-मगल हित,
सुख-सुविधाओ का नव वितरण ।

क्षुधित, यत्र-शोषित भू जनगण,
क्षुधित, देह मन से भू यौवन,
नव भू जीवन की रचना कर
भोगे भू सौन्दय लोक-मन ।

जड विज्ञान मात्र पथ-साधन,
साध्य विश्व-श्रेयस् प्रति अपण,
भौतिक आध्यात्मिक सपद् का
भू पर होना नव सयोजन ।

मुझे पूण आस्था मानव पर,
सत्य न युग का अवर-डवर,
नर विकास-प्रतिनिधि,—नव युग मे
करना उसको सजग पदापण ।

गजल

एक वेदना मिलती उर्दू के गजलो मे—
गहन वेदना,—प्रेम वेदना जो जन-मादन !—
वही सुरा वास्तव मे, जिसे पिलाता साकी !

कभी प्रेम से प्रेम-व्यथा का मूल्य अधिक
बढ जाता उनमे ! प्रेम पात्र से प्रेमी
बन जाता महत्त्वमय ! फिर भी उर का
भाव विभोर बना, तन्मय कर देती गजलें !—

भूल वास्तविकता जीवन की, मन ऊपर उठ,
किसी और ही भाव गगन मे उडने लगता,
व्यापक, मोहक !—युक्त सहज ही हो जाता
अतरतम लय मे ! और गूढ से गूढ तत्त्व भी
अभिव्यजित हो लौकिक भाव व्यथा के स्वर मे
अधिक निकट आ जाते मनुज-हृदय के निश्चय !
द्वार भावना के खुल पडते—अग स्वय ही
बन जाते वे जीवन के अनुभूत सत्य के !

इसीलिए मुझको गजले भाती कविता से,—
उनका एक विचित्र जगत् है, जहाँ कल्पना
वास्तवता से अधिक सत्य लगती, वह यद्यपि
वास्तवता ही को लेकर ऊपर उठती है।
वहा बुद्धि निज घुटने देती टेक,—भावना
विजयी हो, छा जाती सूक्ष्म सुरा-सी मन मे।

लगता, शायर वस्तु-जगत् का जीव नही है।—
वह या तो उससे महान्—हा, यही सही है।

हृदय मुक्ति

हृदय-द्वार खोला है—
भू मन मे बदी नर,
गति विकास को दो,
जीवन का हो रूपातर !

राग द्वेष की बडी पहने
तुम जिन आदर्शो का
ममत्वे स्वर्णिम गहने,—
लौह-शृखला भर वे
मनोविकृति मे निर्मित,
मानवीय स्तर पर
जीवन का उठना निश्चित !

प्रीति रश्मि से
प्राण कामना को कर दीपित
जन मन का
नव श्री शोभा मे होना विकसित !

जन भू प्रतिनिधि मानव
आज खडा सिर के बल,
मन की सीमा उसे लाघनी
जीवन मे ढल !

मुक्त प्राण विचरे नारी
जन-भू प्रागण पर,
भावी सतति वाहक वह,
जाग्रत् हो अतर !
सस्कृत रुचि हो,
शील-सुरभि उर मे हो निमल,
वहिर्मुक्ति हित
दृढ सयम-केंद्रित अतस्तल !

प्रेम - मुक्ति ही सभव
जग मे स्त्री नर के हित,
प्रेम हीन जो मुक्ति
पतन-भय से वह पीडित !

खुलें प्रीति के द्वार,
हृदय-मन हो आह्लादित,
अत शोभा से
दिगत हो जग के कुसुमित !

उर-कपाट खोलो हे,
नारी मे वदी नर,
भू जीवन को दा
आत्मा की गरिमा का वर !

प्रार्थना रूप

प्रसव वेदना सह जब जननी
हृदय-स्वप्न निज मूत बनाकर
स्तन्य दान दे उसे पालती,
पग पग नव शिशु पर न्योछावर—
नही प्राथना इससे सुदर !

सत्य-निष्ठ, जन भू प्रेमी जब
मानव जीवन के मगल हित
कर देते उत्सग प्राण निज
भू-रज को कर शोणित रजित,—
नही प्राथना इससे वढकर !

चख-चख जीवन मधु रस प्रतिक्षण
विपुल मनोवैभव कर सचित,
जन-मधुकर अनुभूति द्रवित जब
करते भव मधु छत्र विनिर्मित—
नही प्राथना इससे शुचितर !

मानवीय जग

ध्यान-मौन आत्मा के
अबर मे विचरण कर
जब मैं पुन उतरता
जन-भू जीवन स्तर पर—

लगता कसा नारकीय
जीवन भू-मानव
बिता रहा ! उसको न ज्ञात
निज आत्मिक गौरव !

राग द्वष मे सना,
काम लिप्सा से मर्दित
जाति वण वर्गो
लघु कुल माना म खडित—

निज खद्योत अहता की
झिलमिल पर दर्पित
वह जीवन के रण क्षेत्र म
आत्म पराजित !

सूख गया रस-स्रोत
प्रेरणा-स्रोत हृदय मे,
सृजन-हृप से वचित,
लिपटा भय-सशय मे—

मृत्यु अनास्था दुख के
फन से दशित प्रतिक्षण
वहिर्वास्तविक्ता का
शकित करता पूजन ।

प्राणो के विद्युत स्पर्शो से
काम-दीप्त तन,
अध भोग के गर्तो मे
डूवा उसका मन ।

दैन्य, विपमता, अति तृष्णा से
जीवन जर्जर,
वनता जाता नरक
धरा-प्रागण जन-दुस्तर ।

कहा आज वह
आदर्शो के प्रति आकपण ?
विद्या-दुग्ध विनय,
सस्कृत रुचि का सयोजन ?

सहृदयता, स्वाभाविक्ता से
सुरभित जीवन ?—

मानवीय जग

ध्यान मौन आत्मा के
अबर मे विचरण कर
जब मैं पुन उतरता
जन-भू जीवन स्तर पर—

लगता कैसा नारकीय
जीवन भू मानव
बिता रहा ! उसको न ज्ञान
निज आत्मिक गौरव !

राग द्वेष मे सना,
काम लिप्सा से मर्दित
जाति वर्ण वर्गों
लघु कुल मानो मे खडित—

निज खद्योत अहता की
झिलमिल पर दर्पित
वह जीवन के रण-क्षेत्र मे
आत्म पराजित !

सूख गया रस - स्रोत
प्रेरणा-स्रोत हृदय मे,
सृजन-हृष से वचित,
लिपटा भय-सशय मे—

मृत्यु अनास्था दुख के
फन से दशित प्रतिक्षण
बहिर्वास्तविक्ता का
शकित करता पूजन ।

प्राणो के विद्युत् स्पर्शो से
काम-दीप्त तन,
अध भोग के गर्तो मे
डूबा उसका मन ।

दैन्य, विषमता, अति तृष्णा से
जीवन जजर,
बनता जाता नरक
धरा-प्रागण जन-दुस्तर ।

कहा आज वह
आदर्शो के प्रति आकर्षण ?
विद्या दुग्ध विनय,
सस्कृत रुचि का सयोजन ?

सहृदयता, स्वाभाविकता से
सुरभित जीवन ?—

निग्रह

दृष्टि चाहिए,
सृष्टि के लिए दष्टि चाहिए।
अनगिनती मजरियो से
लद रही डालिया,
बौरा उठे तरुण रसाल
भावोष्ण स्पश पा
नव वसत का।

ज्ञात नही
निश्चेतन आवेश से मथित
वय प्रकृति को—
वन की वानस्पत्य प्रजा को—
आधी हहराती रहती नित
दारुण निमम।
मौन क्रूर आकाश दीखता,
स्तब्ध दिशाएँ,
शत सहस्र शिशु-बौर

धराशायी होते झर।—
साँस तोड तपती भू रज पर।

वन पशुओ-से
रौंदा करते मृदु वक्षो को
कुटिल काल के चरण,
दया जो नही जानते
और क्षमा न कभी कर सकते!

प्रकृति अध है।—
ठीक कहा है सांख्यकार ने।
शक्तिमत्त वह,
दृष्टि न उसके पास बोध की!

जग जननी, नि सीम यौवना
वह नि सशय,—
जगल उसने उगा दिए घन
जन-धरणी पर,
अक्षय रस की
स्नेह वृष्टि कर!

मानव
जो विकास ध्वज वाहक,
उपवन मे परिणत करना
उसको जन वन को!

जहा रूप रस, रग गध हो,
मलय पवन का प्रीति स्पश हो,

पिक कूजन
मधुलिह गुजन,
जग जीवन मगल मधु सचय हो !

मानवीय कर
उसे सँजोना जन-भू प्रागण !
रोक थाम कर अध प्रवृति की,
स्वस्थ सतुलित गति दे अति का,
काट छाँट करती उसको,
झखाड झाड की
खर कटक की वाढ रोक कर !

सृजन-कला सयम ही की
सौंदर्य-नीव पर
युग्म-प्रीति का
जन-मगल का
स्वग वसाया जा सकता नित !

यही दृष्टि चाहिए सृष्टि को !

समर्पण

भूल स्वय को
जग को करने लगा प्यार जब,
जान सका तब,

कितना दिव् सुदर जग जीवन,
कितने प्यारे जगती के जन,
विविध स्वभावो, रुचियो,
स्थितियो के - से दपण !

हृदय रुद्ध रह सका न
सरसी-सा कूलो म
लिपटा-अनुभव शूय
अहता की भूलो मे,—

वह बह चला सरित-सा
सागर सगम हित बन
अमित समपण !

खेला शत जीवन लहरों से
सूर्य चंद्र चुंबित अधरों से—
ऊब-डूब कर
    तिरता रहा
    अतल अकूल बन,
खोकर उसने
सहज पा लिया ही अपनापन।

प्यार, प्यार था दिशा काल पट,
प्यार, डूबने का भय संकट,—
प्यार, मृत्यु के पार नया तट,
प्यार मात्र प्रिय सखा सनातन।

उसका करने लगा प्यार जब
        जान सका तब
    यंत्र उसी के
        देह प्राण मन।

आत्म-बोध

प्रथम विजय उल्लास
जग रहा मेरे भीतर,
जीवन का मुख
आज और भी लगता सुदर ।

बँधा बँधा जाने मन
कसा करता अनुभव,—
धूम मेघ-सा छाया रहता,
मन ही मन मैं सब कुछ सहता,
सभी बुद्धि की सिद्धि
अत मे बनती विफल पराभव ।

आज हुआ उन्मेष अचानक
दृष्टि रही विस्मय से अपलक,—
छाया-पट सा हुआ अनावृत
शोभा का मुख स्वय अगुठित,—

देख सका मैं अपने को
अपनी इच्छा से वेष्टित !

सुदर था इच्छा का आनन,
मैंने मुख पर आँका चुबन,—
वह मेरी थी,
मैं अब उसका न था,
खुला चिर स्वर्णिम बधन !

मुक्त अक मे लिया तुरत भर
मैंने उस तन्वी को सुदर,
और भूल मैं गया उसे फिर
उसका गुह्य रहस्य समझ कर !

झर झर
पीले पात गए झर,
केवल स्थाणु रहा
चिद भास्वर !
उर दिगत फिर
नव वसत वैभव से
सहज गया भर !

सस्कृति पीठ

भौतिक युग सभ्यता
मनुज के कटि प्रदेश तट पर स्थित,—
हृदय कमल पर होना उसका
ऋत ऐश्वय प्रतिष्ठित ।

भारत वसुध, नि सशय
आधार करा दृढ निर्मित
नव भौतिकता का
जन जीवन
प्राण रह न बुभुक्षित ।

जीवन की शाभा,
यौवन आकाक्षा हो भू-कुसुमित,
प्राण पीठ हो
आत्मा की गरिमा से
महिमा मडित ।

प्राणो के आवर्तो मे
खो जाय नही जन-भू मन,
शील मनुज - सस्कृति का माखन,
मानव आत्मा का धन ।
पाद-पीठ भौतिकता,
कटि-भूषण भर प्राणिक-जीवन,
स्वग शिखर से भी उन्नत
मानव,—प्रकाश पावक कण !
विचरो भू पर,
सूघो प्राणो की सौरभ
जो जीवन,—
सचित करो श्रेय—जीवन-मधु,
गहन भाव सवेदन ।

डूबो नही जगत् मे
निज सँग उसे उठाओ ऊपर,
निर्मित करो धरा-पथ,
तुम भू पर ईश्वर-प्रतिनिधि नर ।

भरत भूमि,
युग युग से जीवन
तुम्हे रहा भव - साधन,
भौतिकता की विश्व-पीठ पर
ज्योति-चरण धर चेतन
करो अवतरण ।—
धरा धन्य हो !

पूरब पश्चिम, दिशि-दक्षिण
प्रीति ऐक्य में बँधें—
लोक-भू
    बन स्वर्ग-मुख दर्पण,—
मनुज
    सृजन सौन्दर्य, शांति सुख
    करे धरा पर वितरण।

युग पतझर

नव युग पतझर
मन को भाता !
विघटन ह्रास
धुध वन - अधड
यह अपने सँग लाता !

दुधर पतझर
जन को भाता ।
ममर स्वर भर,
कवि विकास क्रम ज्ञाता
पतझर के गुण गाता ।

ओ आधी, ओ झझा,
युग पतझर की श्वासा,
अब अधीर हो, उठे प्राण मन,
अति असह्य लगता भू जीवन,

अधकार - सी छाई
उर मे घोर निराशा,—
पतझर की अहि - श्वासा !

हहरो तुम, घहरो तुम,
सिहर उठे दिङ्मडल,
झरे जगत् जीवन के
रूढि - जीर्ण पीले दल !

फूटें जन अतर मे
नव भावो की कोपल
महामरण सँग खुल खेले
भावी भू -मगल !

यह क्या, क्या कहता
उद्वेलित मानव अतर—
मैं ही हूँ युग - पतझर
नव मधु का प्रिय सहचर !

प्रलय घुमडता ऋुद्ध—उदर मे
युग विष था जो पिया
गरजता अब वह
पचम स्वर मे !

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शकर,
कवि प्रलयकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का ।

फूट रही मेरे रोओ से
सभावना असख्य—
रग गधो मे गुफित
नये वसतो ही-सी अगणित,
भनोदिगतो मे जो कुसुमित ।

परिवतन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ ।
मैं सत्रस्त न मत्यु त्रास से
ध्वस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग मे मूत-अगोचर,
निज पर निर्भर ।—
मैं ही जीवन-ईश्वर ।

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन - यात्री, मन ।
मृत्यु - द्वार कर पार निरतर
अर्पित कर उसको
निज मद तन,—
मैं असीम स आख मिचौनी खेल
पुन करता अवराहण ।

प्राणो के यौवन की मदिरा
पी-पी कर उन्मद सुख विस्मृत
तिग्म रूप - ज्वाला मे लिपटा
जलता मैं आनद उच्छवसित ।

तिरता शोभा - जल अकूल मे
रस-समुद्र म डूब निरतर,
रचता सुरधनु स्वप्न - सेतु स्मित
धरा स्वग को बाहो मे भर ।

जरा

बोधि - तारुण्य मुझे अब
अमृत पिलाता आत्म - तप्तिकर,
अनगढ जन - भू जीवन - पथ के
निखिल शोक सताप पाप हर ।

देख रहा अब
इच्छा पर आरूढ
आत्म - द्रष्टा असग मन—
क्यो जन-भू - जीवन सघषण ?
क्या दुख भय सशय का कारण ।

कमी नही कुछ भी मनुष्य मे—
वह निर्माण करे भव-जीवन,
विश्व - बोध सँग
आत्म - बोध कर प्राप्त
करे निभय भू - विचरण ।
नर अनत का यात्री, रे मन ।

अधड

उड जाएगी क्या भू ?
फू, फू !
उड जाएगी वन-भू ?

अधड आया
धूल धुध के रथ पर चढकर,
गिरि वक्षो से कूद
रेणु-अश्वो पर बढ कर !

ढहते तण तरु सिहर,
झर रहे पत्ते चर झर !
भरी धूल आखो मे, मुह मे,
थू, थू !
कहा खो गई प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बासो के वन मे,

जाग रहा कैशोर उछाह
तडित् सा मन मे—

फर् फर् नाच रहे पीले दल
पडा थल भँवर,
भूक रहा पागल कुत्ते-सा
दौड बवडर !
घिरी साँझ,
जुट स्यार चीखते
हू, हू !
आखो से आझल भू !

सिह दहाड रह,
वन अघड वना चुनौती,
वात गरजती—
शक्ति सिह की नही वपौती !

वू वू डर मे रोते वदर,
पक्षि-पोत गिर पडते थर् थर्,
छीव आ रही,—नासापुट म
छाई वन की वू-वू !
सौंधी गध भरी भू !

चील काटती नभ मे चक्कर
खोज नही पाती घर,
मथ क्रुद्ध निप-पुत गया
शानि आवेग भयकर !

अब न पार्श्व मुग्ध चंद्र,
धूलि का बादल अंबर,—
साँझ जल रही धू-धू !
श्रीहत-सी लगती भू !

बाह्य दृश्य यह !—
डालों पर अँगड़ाती कोंपल,
ध्वंस सृजन का दूत,—
शांत मन का कौतूहल !
झेल धूल-घन
खेल रहे लड़के डट डू-डू !
नग्न गहन को
गुंजो रही कोयल रट कू-कू !
रंग खेलती अब भू !

परा

खोज रहा जीवन मुझमे सार्थकता,
देख रहा मैं जीवन की व्यापकता !—
सोच सोच मन थकता !

मुझमे मैं ही नही
विश्व भी रहता निश्चय
सिंधु - बिन्दु में
सिंधु अकूल न संशय !

मैं सागर
सागर मेरे प्रति उपकृत,
क्या कि परस्पर रस - गुम्फित ही
रह सकते हम जीवित !

कौन परस्पर बाँधे
क्षर को अक्षर से,
क्षण को अनंत,

लघु जल कण या सागर से ?
पूछ रहा मैं प्रश्न मौन अंतर से !

उसी शक्ति की अमर खोज हित,
उसी मम के गूढ बोध हित—
वही चेतना मरी
उन्मद नद-सी कल कल छल छल,
नांघ पल विपल,
आत्म - रिक्त कर सकल
सकल अतस्तल !

वही चेतना धरा व्योम मे,
वही अहर्निशि सूय साम मे—
वही निरतर राम राम म !

ज्यो सरिता की गति
अवसित होती सागर मे,
तट बधन खुल जाते
घुल अकूल सागर मे—

मैंने भी सोचा
तुमको कर पूण समपण
मैं भी लय हो जाऊँ तत्क्षण,—
रहे न काय, न कारण !

पर, यह सागर सगम
केवल अध - सत्य भर निमम !
युग युग से प्रचलित भ्रम !

हम तुम दोनो ही आवश्यक
दोना के हित,
मन असीम - सीमा मे हुआ
अचानक परिचित !
सीमा और असीम उभय
अपने मे सीमित !

ओ असीम सीमा की स्वामिनि,
अमर प्रीतिमयि, अतयामिनि,
स्वय पूण तुम,
साथकता या व्यापकता से
परे परे नित,
अपने मे स्थित ।

मुक्त आत्म - उल्लास तुम्हारा करता सजन
स्वग - मत्य का प्रतिक्षण !
तुम मुझको, जग को
अपने मे करती धारण ।
साथकता पाते तुम मे ही
जन्म, मरण औ' जीवन !

व्यक्ति विश्व—
दोना को तुम रखती चिर नूतन ।—
मैं विकास - ध्वज - वाहक
तिरता जगत - जलधि निभय मन,
लिए हृदय मे, प्रीति,
तुम्हारा अक्षय चित् - पावक कण ।

कासो के फूल

हम वन-कासा के फूल धूम-दल,
रिक्त वारि नि स्वन वादल,
हमम न रूप रग गध रेणु,
हममे न सरस फलते ही फल ।

हम धरती के वायव्य श्वेत,
झागा की झील, न जिसमे जल,
वन खीस काढ हँसता विपण्ण,—
हम ज्योत्स्ना के अगा के मल ।

मकडी के जाला-से ही हम
लिपटे रहते जग के वन मे,
चिन्ता-पजर-से रक्त-हीन
छाए बरबस जन-भू मन मे ।

वसे तो जब हर घन घमड
शशिमुखी शरद ऋतु मुसकाती
तब धरती उसके स्वागत मे
कासा के केतन फहराती ।

सित शांति - ध्वजा हम, सौम्य प्रकृति,
जन नही महत्त्व ममझ पाते,
जग इसीलिए तो रण - जजर,—
जन - भू - अभिभावक पछताते ।

ज्या शुभ्र रश्मि मे सुरधनु की
रत्नच्छायाएँ अतर्हित
त्यो भू जीवन के रास - रग
सब श्वेत शाति से आलिंगित ।

हम स्वच्छ कास के तूल - फूल,
हम शाति प्रतीक, नही सशय,
जो आक सकें जन शाति - मूल्य
जन - भू जीवन हो मगलमय ।

तुम शुभ्र कपोत उडाओगे,
हम भू पर बिछ बिछ जाएँगे,
जन साधारण हम नम्र काम
हम विश्व - शाति - से छाएँगे ।

संबोधन

यौवन - प्रतिभे,
आओ सब मिल
भू - जीवन निर्माण करें ।
बहुत हुआ कुंठा भ्रम,
मृत्यु त्रास, संशय तम,
अंध अनास्था का क्रम,—
हम युग - ह्रास - समुद्र तरें ।

मानवता का हम पर
ऋण निर्व्याज निरंतर,
बचें न अस्वीकृत कर,
निष्ठा से युग दाय भरें ।
बँटे गुटों मे अगणित
मूढ अहंता प्रेरित —
हम मृगजल यश के हित
शुष्क - बोध - मरु मे न मरें ।

छंद - वेणु स्वर - खडित,
काव्य मूल्य गढ इच्छित,
हम न भाव-रस वचित
शशक शृग मद मे विचरें ।

अथ - शून्य आडवर
विम्व - प्रतीको मे भर ।
कला कला के हित वर
हम न सृजन के खेत चरें ।

संट युग - सघपण मे,
झाक मम के व्रण मे,
हम भू जीवन रण मे
भूधर - पण के चरण धर ।

यह विकास कामी जग
शूलो फूलो का मग
शोणित - रजित दृढ पग
पथ के वाधा विघ्न हरें ।

शिव की वाहो मे भर
शोभा - गौर कलेवर,
अक सत्य - शिशु को धर
सृजन - लक्ष्य से हम न टरें ।

देश काल युग - वधन
जाति वग कर खडन,
नव जीवन सयोजन
भरें, - झरें मृत - पत्र झर ।

अग्रदूत सृजन के,
युग द्रष्टा जीवन के,
हम स्रष्टा भू - मन के,
ह्रास - नाश तम से न डरें ।

नव युग प्रतिभे,
आओ ,
नव जन-भू - जीवन निर्माण करें ।

कला दृष्टि

जा निगूढ अनुभूति - विषय र
उसका क्या हो सकता उत्तर
मन के स्तर पर ?

मुखर न होकर
मौन रह सके
जा अतर्मुख अतर,
अघटित घटना घट,
पट उर - सशय दुस्तर ।

गोचर गुह्य - अगोचर के
पाटो म पिसकर
कुछ भी हाथ नही लगता
कवि - मन का अनुभव,—

सरल बनो,
सित आस्था स्पर्शित,

पूण समर्पित करो
हृदय सशय, मति वभव !

स्वय वज उठेगी उर - तत्री
सूक्ष्म अगोचर अगुलि - स्पर्शों से
सुर - मादन,
धूपछाँह लिपि मे हागो
तारापथ - अतमन मे कपन !

स्वर - सगति मे वँध जाएँगे
मन के सुख दुख
गायन वन जाएगा
नि स्वर जीवन क्रदन !

वोणा वीणाकार
वेणु - सगीत एक ही,
हो विभक्त
सहता विभेद - मति के
उर दशन,
मुक्त प्रेम ही स्रष्टा, सष्टि,
सजन श्रम अविरत,—

कला दष्टि यह,
तन्मय तदगत
सतत प्रेम मे युक्त—
भोगना समग्रता मे
जीवन मन का,—

पूण सत्य के कर
वहिरतर दशन !

सार्थकता

फिर अँगडाई लेता वसत
खुलते नव स्वप्ना के दिगत ।

अतर मे पैठ रही वरवस
आकाक्षा - सौरभ दिङ्मादन,
अव गूज उठे मधुपो के वन
गाता अतर्मुख उर - यौवन ।

दिशि दिशि जगती नव मधु ममर,
रोओ मे सुख कँपता थर् थर्,
झर रहे परागो के वादल
भू आगन मे भर स्वर्णिम त्सर ।

लय लाज लालिमा मे ऊषा
खोलती क्षितिज के वातायन,
अग जग की सूक्ष्म शिराओ मे
दौडता रक्त,—उच्छ्वसित पवन ।

इस शोभा के जग में डूबा
उन्मन हो उठता मेरा मन,—
मेरा कुछ था सो गया कभी
उसका संकेत मिला गोपन !

चल पंख मार निज,
नील चीर
गाता जा मत्त विहग अधीर,
वह मेरे प्राणों का प्रतीक,—
स्वप्नाकुल साँसों का समीर !

जग जीवन में खो जाने में
सार्थकता लगती जीवन की,
जग में ही तुमको पाने की
चिर आकांक्षा मेरे मन की !

मैं अपने मन में एकाकी —
तुमको ही बिठा हृदय भीतर
यह मग वन में फिरता निर्भय
मामन मधु हो, पंजर पतझर !

अब त्याग—अहंता स्वार्थ दर्प,
आनंद स्पर्श बहता निःस्वन,
तप—रत न कामना सुख में रह,
मिलता मित शोभा - मुख चुंबन !

यह सच आँसू ही से धुलकर
होता मानव का मुख पावन,
जीवन के जो साधना - नियम
उनके प्रति नत तन मन अर्पण !

चाँद की टोह

चद्र नर — "मैं टोह चाद की लाया हूँ,
नक्षत्र लोक से आया हूँ ।

"कर पार नीलिमा के प्रसार
मुक्ता क्षितिजों मे कर विहार,
मैं सुरधनुओं के सेतु लांघ
तन्वंगी तड़ितों को निहार—
घन - कक्षों मे बिलमाया हूँ,
मैं चद्र लोक से आया हूँ ।"

एक स्वर — "कैसा, कैसा वह चद्रानन,
उस विधुवदनी का सम्मोहन,—
कब से आकुल जन के लोचन,
देखते रहे क्या अपलक मन ?"

दूसरा स्वर — "कुछ कहते उसको पितृलोक,
कुछ मनसोजात भुवन अशोक,

कुछ सूय ज्योति का सौम्य मुकुर,—
मैं जिज्ञासा पाता न रोक।"

चद्र नर "मैं घूम घूम पछताया हूँ,
मै चद्र लोक से आया हूँ।—

"तब जिसे खोजते थे भीतर,
अब उसे ढूढते जन बाहर,
जिज्ञासा का कुछ अत नही
मुझको कहने म रच न डर।

'ये दोनो अतर्बहिर्गमन
एकागी खोजो के लक्षण,—
बहिरतर म भर सयोजन
गढना हमको मानव जीवन।

"ये सूय-चद्र भू-सेवा हित,—
जन भू जीवन को कर विस्मृत
मैं चाद पकडने को निकला
निज बाल-मोह पर हूँ लज्जित।

"यदि मानवीय जन-भू प्रागण
बन सका न रह उपेक्षित जन,—
तो चद्रलोक मे बस कर भी
अणु अस्त्र बनाएगा हत मन।—

मैं चद्र लोक से आया हूँ
भू हित सदेशा लाया हूँ।"

सृजन शून्य

सूनापन, सूनापन,—
 विघटित होता युग-मन ।
हृदय उल्लसित
 देख नग्न पतझर का तरु-वन ।

कँपता सुख से थर् थर्
 वन-भू प्रांतर-अंतर,
मिटते रोग-शोक, भय-संशय,
 पीले पत्तों-से झर !
दृष्टि अंध करने को उड़ते
 धूल-धुंध तम के घन ।

सूनापन, सूनापन—
 रोके रुक सकती क्या कोंपल ?
 सृजन-हर्ष से वन-उर चंचल ।
 अभिव्यक्ति देती अपने को

विश्व चेतना प्रतिपल !
अँगड़ाई लेता रह रह कर,
उन्मद गंध समीरण !

रिक्त हो रहा क्या तरु कानन ?
उन्मन-से कुछ लगते दिशि क्षण,—
अथवा जन-भू प्रांगण में अब
भाव-बोध उगता नूतन ?
पूर्ण पूर्णतर होता जीवन
यह भव-सत्य चिरंतन !—
क्षितिजों से अब शोभा अभिनव
झाँक रही—मन करता अनुभव,
गिरि, तरु-वन, गृह-मग में छाए
रस पावक के पल्लव !
स्वप्नों का सौंदर्य बरसता,
कोयल करती कूजन !
सूनापन, सूनापन !

चित्र गीत

गीत तितलियो-से उड आते !
वर्ण-वण के पख मनोहर
उडते फूल-फूल पर नि स्वर,
चल रगो की फुहार-सी
दृग सम्मुख बरसाते,—
आँखो को भी भाते,
गीत मुक्त छदो मे आते !

अग-भगि भावो की कोमल,
भ्रू-निपात कल्पना के चपल,
ओस बिन्दुओ के अस्थिर पल,—
ये सचमुच बौद्धिक शिशु निश्छल,
मन ही मन तुतलाते,
गीत अर्थ-लय मे मँडराते !

वही फूल होते ये सुदर
नामो मे सौरभ जाती भर,
फल भी इनमे लगते सुदर—

भूजन जी भर खाते,
मधुकर छत्र बनाते,—
गीत प्रतीक विम्ब बन आते ।

मुक्त विहग ही होते द्रुत-जव
भू-नभ छोर बाँधता कलरव,—
साहस की निभय उडान भर
छूते उच्च दिगतर सभव,—
कुहुक चहक ये गाते,
मोहक टेर लगाते,
मन की व्यथा भुलाते,
गीत भाव-रस-माते ।

प्रेमाश्रु

प्राण, प्रेम के आसू
ताराओ से अधिक जिएँगे,
मव निधियो से अधिक रहगे—
दया प्रेम के आसू ।

वरसाओ इनको,
वरसाओ जन मन भू पर,
निर्निमेप कमलो - से खिल कर,
प्राण - वारियो मे हँस सुदर—

ये मानव - मन को मोहगे,
जन - भू के दुख को ढोएँगे ।

सरल, प्रेम के आँसू
नव भावा मे विकसित
अतर - वैभव से कर विस्मित,
अगणित इद्रधनुप बिखरा
उर के दिगन मे सस्मित—

नव सुख - बीजा को बोएँगे,
ये मानव - मन का धोएँगे ।

अनघ प्रीति के आँसू ।
उर मे बन नव आशा
नव जीवन अभिलाषा,
नव मानव परिभाषा
जन जन का अतर टोहगे,
भेद - भाव मन का खोएँगे ।

स्वच्छ स्नेह के आसू ।
आशा इन पर करे निछावर
निखिल रत्न, मणि माणिक मत्वर,
ये ही रवि - शशि - तारा भास्वर—

प्रेम - दीप्त मुख जन जाहगे,
निज विश्वास नही खोएँग ।

मनुज प्रेम के आसू ।
ताराओ से अधिक जिएँग
यश वैभव से अधिक रहेगे,
विश्व प्रेम के आसू ।

होटल का बैरा

तीस जून अब मुझे विदा होना होटल से,
कल प्रयाग को मैं प्रात प्रस्थान करूगा।
सुहृद् प्रतीक्षा करते होगे, और मुझे भी
उनकी याद सताती रहती।

होटल मे अब

फैल चुकी सूचना सुबह मेरे जाने की।
बैरा आज अधिक तत्परता से सेवा मे
व्यस्त दीखते तरह-तरह यत्नो से मुझको
खुश करने मे लगे हुए है। दात निकाल,
मधुर चापलूसी कर मेरी,—आपस मे सज्जनता की
तारीफ कर रहे और विदा वेला आने का
दुख भी दरसा रहे। किन्तु यह नाटक भर है।
वे चाहते इनाम झटकना मुझसे गहरा,—
गडा जा रहा हूँ मन ही मन मैं लज्जा से।

मुझे ज्ञात है, मैं ही हूँ होटल का बैरा।
मैं भी उनकी तरह यही सब नाटक रचता
दाता को फुसलाने, ऐसी स्थिति मे पडकर।

क्या कि साहबों की दुनिया यह ! वे क्या जाने
इससे भी कितने बदतर ढँग से अमीर बन
पैसा कमा रहे । होटल में रह कर कुछ दिन
खूब शान-शौकत बघार कर—हुक्म चलाते
बैराओं पर,—जो नत-मस्तक उसे बजाते !
संभव, वे हमसे मनुष्यता में अच्छे हों !—
क्या मनुजों के योग्य कभी बन पाएगी भू ?

क्यो कि साहबो की दुनिया यह ! वे क्या जाने
इसमे भी कितने वदतर ढँग से अमीर वन
पैसा कमा रहे ! होटल मे रह कर कुछ दिन
खूब शान - शौकत बघार कर—हुक्म चलाते
बैराओ पर,—जो नत मस्तक उसे वजाते !
सभव, वे हमसे मनुष्यता मे अच्छे हो !—
क्या मनुजो के योग्य कभी वन पाएगी भू ?